हिंदी-काव्य में प्रगतिवाद

लेखक

विजय

प्राध्यापक, ...विद्यालय

सर्वोदय साहित्य मंदिर,
कोठी, (बसस्टैण्ड,) हैदराबाद द.
प्रकाशक

रीति

ज्ञापित

पुस्तक-विक्रेता
नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स,
बनारस ।

पहला संस्करण १००० प्रतियाँ, अक्तूबर १९४७
दूसरा संस्करण २२०० प्रतियाँ, अक्तूबर १९५०
मूल्य २॥)

मुद्रक—
बालकृष्ण शास्त्री,
ज्योतिष प्रकाश प्रेस.

वक्तव्य

प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य आधुनिक हिंदी-काव्य की नवीनतम प्रवृत्ति 'प्रगतिवाद' का सुबोध विवेचन है। मैंने यह प्रयत्न किया है कि इसमें प्रगतिवाद की साहित्यगत आवश्यकता का उल्लेख उसके सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्ष का निरूपण तथा उसकी सदसद् प्रवृत्तियों का निर्देश, स्पष्ट रूप में हो जाय।

पुस्तक सन् १९४५ के अप्रैल में तैयार हो गई थी। फिर विचार हुआ कि इसका और विस्तार कर दिया जाय; पर कई कारणों से यह कार्य रुकता गया और विलम्ब होने लगा इसलिए जहाँ तहाँ बहुत थोड़े परिवर्तन के साथ, प्रायः उसी रूप में, 'हिंदी-काव्य में प्रगतिवाद' प्रकाशित हो रहा है।

यह कहना कि श्रद्धेय गुरुवर पं० विश्वनाथप्रसादजी मिश्र की कृपा से ही यह पुस्तक इस रूप में उपस्थित की जा रही है, तथ्य का कथन मात्र है। श्रद्धेय गुरुवर-द्वय पं० केशवप्रसादजी मिश्र और पं० नंददुलारेजी वाजपेयी ने एक-एक बार इसकी पांडुलिपि देखकर मुझे प्रोत्साहित किया है। यद्यपि शब्दों द्वारा गुरुजनों के स्नेह और अनुग्रह का उल्लेख करना कठिन है तथापि प्रचलित रीति के अनुसार उपर्युक्त महानुभावों के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इस पुस्तक में जिन लेखकों की रचनाओं से

किसी प्रकार के उद्धरण दिए गए हैं उन सब का मैं ऋणी हूँ। अंत में मैं उन सभी मित्रों का आभार स्वीकार करता हूँ जिनकी प्रेरणा से इस पुस्तक को प्रकाशित कराने में शीघ्रता करनी पड़ी। प्रियवर श्री नामवर सिंह ने भी पुस्तक का नामानुक्रम तैयार करके मेरी सहायता की है।

यदि यह पुस्तक जिज्ञासुओं को प्रगतिवादी काव्य की गति-विधि समझने में कुछ भी सहायक हुई तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

हिन्दू विश्वविद्यालय,
काशी
अगस्त '४७

विजयशंकर मल्ल

इस दूसरे संस्करण में कुछ नवीन सामग्री जोड़ दी गई है और कई जगह थोड़ा बहुत परिवर्तन और परिवर्द्धन भी हुआ है। इस प्रकार छः अध्यायों के स्थान पर अब सात अध्याय हो गए हैं। पुस्तक के अंत में पहले संस्करण की भाँति नामानुक्रमणिका देने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

जून १९५०

—लेखक

विषय-सूची

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३	४	शिष्ठ	शिष्ट
१४	१३	जम	जन्म
१८	१३	जिहें	जिन्हें
१८	१५	सम्बन्ध	सम्भव
१८	१५	प्रम	प्रेम
१९	१४	औार	और
२०	९	बिधवा	विधवा
२०	२५	वार	वीर
२१	७	हस	इस
२४	५	द्वन्द्व	द्वन्द्व
२४	१८	हतिहास	इतिहास
२५	११	सुबिधाएँ	सुविधाएँ
२६	७	जिहें	जिन्हें
३१	११	सज्जात	सज्जाद
३८	५	मोचा	मोर्चा
४१	६	प्रूफाक	प्रूफ्राक
५५	२३	महाप्राण में	महाप्राण से
५७	२	'अर्थ' में	'अर्थ' से
६६	१५	न होगी	न होगा
७६	२०	प्रत्थक्ष	प्रत्यक्ष
८७	११	कृतियों	कृतियां

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९१	१०	श्रामिक	श्रमिक
११३	५	भारतदु	भारतेंदु
११५	१	बिदेसचि	बिदेस चलि
११९	२२	कराने	करने
१२२	२६	हैने, उसे बदल	है, उसे बदलने
१२६	२६	वसरों अ	अवसरों
१३१	४	पत	पन्त
१३१	५	संबद्ध है	संबद्ध हैं
१३२	२६	तनी	तीन
१३३	२	तात्वर्य	तात्पर्य
१३३	५	शैल	शैली
१३३	७	वास्तविकी	वास्तविक
१३३	१७	शव्दचित्र	शब्दचित्र
१४०	१२	इतना	इतनी
१४१	९	रूचि	रुचि
१४१	१२	जोकें	जोंकें
१६१	१३	केकल	केवल

पूर्वपीठिका

काव्य और लोक

काव्य लोक की वस्तु है और उसका कर्त्ता कवि संवेदनशील सामाजिक प्राणी। लोक के बीच संचरित होनेवाली भावधारा एवं विचार तरंगों के आघात से उसकी हृत्तंत्री जब कंपित हो उठती है तब काव्य की झंकार उत्पन्न होती है, जिसकी रमणीयता में मग्न होकर सहृदय पाठक विश्वात्मा की मंगल-साधना में योग देता है। कहने का तात्पर्य यह कि काव्य में सामाजिक जीवन के दृश्यों एवं मनोवृत्तियों का प्रतिबिंब होता है और उस कविता का अध्ययन करनेवाले पाठक के हृदय पर निरूपित चित्रों एवं व्यंजित भावों का प्रतिबिंब पड़ता है। अर्थात् काव्य प्रातिबिंबिक सत्ता है।

जब काव्य और लोकजीवन का संबंध इतना घनिष्ठ है तब यह स्वाभाविक है कि किसी काल विशेष की काव्यधारा में उस युग की

चिंता आकांक्षा और मनोवृत्तियों की पूरी छाप हो। मानव-समाज की ये भावनाएँ और मनोवृत्तियाँ अपने समय की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों के अनुरूप ही निर्मित होती हैं। उन विशेष परिस्थितियों ने ही उनके प्रस्तुत स्वरूप का संघटन किया है। अतएव किसी कालविशेष की साहित्यिक गतिविधि और उसके निर्माणात्मक तत्त्वों के पूर्ण परिज्ञान के लिए उन परिस्थितियों का परिचय भी आवश्यक होता है। इस प्रकार जहाँ हम किसी कवि की कृतियों को उसकी समकालीन परिस्थितियों के आलोक में देखकर उसकी भावनाओं को ठीक ढंग से हृदयंगम कर सकते हैं वहाँ उसकी रचना तत्कालीन मानव-समाज की उन गूढ़ अंतर्वृत्तियों का प्रकाशन भी करती है जिसका वास्तविक परिचय अन्य मार्गों से प्राप्त करना कठिन है। किसी ने ठीक ही कहा है कि कवि की कृति का सम्यक् अध्ययन उसके युग की परिस्थितियों से परिचित करा देता है।

हमारे समाज को जो वर्त्तमान स्वरूप प्राप्त है वह आकस्मिक नहीं वरन् अपने पूर्ववर्ती अनेक युगों के परंपरागत विकास का फल है। उसका जन्म अपने पूर्वकालीन समाज के गर्भ से हुआ है। इसी भाँति किसी काल का साहित्य अपने पूर्व के वाङ्मय के क्रोड़ से उत्पन्न होता है। अर्थात् वह अपनी पूर्वपरंपरा का ही विकसित रूप होता है। इस प्रकार हमारा वर्त्तमान काव्य-वाङ्मय हिन्दी की दीर्घकालीन काव्य-परंपरा की अंतिम कड़ी है। इसका अपने पूर्ववर्ती साहित्य से भी कुछ न कुछ संबंध होना चाहिए। अतएव इस अंतिम कड़ी के परिचय और परीक्षण के पहले इसकी पूर्वपीठिका का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर देना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रथम उत्थान से ही हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में नवीन विषयों, भावों एवं विचारों का संनिवेश होने लगा था; अतः नूतनतम काव्यधारा की पूर्वपीठिका यही आधुनिक काव्यभूमि

ठहरती है। प्रवृत्ति और स्वरूप के विचार से उसे चार खंडों में विभाजित किया जा सकता है—भारतेंदुयुग, द्विवेदीयुग, छायावादयुग और वर्तमानयुग।

जिस समय से आधुनिक हिन्दी-कविता का प्रारंभ होता है वह समय संघर्ष, विचार-परिवर्तन और विदेशी-सत्ता के निरंतर बढ़ते हुए शोषण और उत्पीड़न का युग है। यद्यपि प्रायः सौ साल पहले ही अँगरेज व्यापारियों ने अपने प्रतिद्वंद्वियों को परास्त कर अपने पैर भारत में जमा लिए थे तथापि सन् १८५७ के विद्रोह के पश्चात् व्यवस्थित रूप से विदेशी सत्ता की स्थापना यहाँ हुई। सन् '५७ की क्रांति ने भारतीयों के जीवन में उथल-पुथल मचा दी थी और जनता आश्चर्यचकित हो तत्कालीन परिवर्तनों को देख रही थी। राजनीतिक जीवन आमूल परिवर्तित हो गया। एक ओर धोंधूराव पेशवा सरकारी पेंशन बंद होने के कारण आँसू बहा रहे थे, दूसरी ओर लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह राज्य खोकर कलकत्ते में बैठे बैठे शायरी करके दिल को तसल्ली दे रहे थे। कंपनी के राज्य का अंत हुआ और महारानी विक्टोरिया भारत की शासिका हुईं; भारत का शासन-सूत्र इंगलैंड की पार्लमेंट के हाथ में गया। राजकीय घोषणा से लोगों को विदित हुआ कि हमारे धर्म पर अब कोई आघात न होगा। सरकारी नौकरियों का द्वार सबके लिए खुला है। इन सब बातों से भारतीयों के हृदय में नवीन आशा का संचार हुआ और उन्हें थोड़ी शांति मिली। वर्षों की मारकाट और अशांति के पश्चात् लोगों को यह सामान्य स्थिति अत्यंत सुखद प्रतीत हुई। उस समय हमारे कवियों ने भी राजप्रशस्तियाँ गाईं। यद्यपि रेल-तार आदि की व्यवस्था का मूल उद्देश्य देश के भीतरी भागों में विदेशी माल की खपत और कच्चे माल के निर्यात को सुविधाजनक बनाना था पर सामान्यतः लोगों को यही प्रतीत हुआ कि सरकार हमारी

भारतेंदु युग

सुख-सुविधाओं की दृष्टि से ये नवीन व्यवस्थाएँ कर रही है, इस विचार से तत्कालीन कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा जनता के हर्ष में और राज्य के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन में योग दिया।

पर शीघ्र ही लोगों को विदित हो गया कि विदेशी सत्ता हमारे देश का आर्थिक शोषण कर रही है। तब काव्य-जगत् में राज-प्रशस्ति के साथ साथ देशभक्ति का स्वर भी ऊँचा और तीव्र होने लगा, जिसके अंतर्गत देश की तत्कालीन दशा का विवरण भी दिया जाने लगा। भारत की अतुल संपत्ति जलमार्ग से बहकर विदेश को जा रही है इसका आभास भारतेंदु की इन प्रसिद्ध पंक्तियों में मिलता है—

अँगरेज-राज सुखसाज सजे सब भारी,
पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी।

इस काल के पहले इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति हो चुकी थी। औद्योगिक उन्नति से वहाँ की पूँजी बहुत बढ़ गई थी अतएव उस पूँजी को लगाने के लिए नए बाजार की आवश्यकता हुई। भारत हाथ में था ही; यहाँ विदेशी पूँजी अधिकाधिक मात्रा में लगाई गई। आर्थिक शोषण का चक्र विशेष गतिमान हुआ। सन् १८६८ से ७८ के बीच देश में कई अकाल भी पड़े। इस प्रकार आर्थिक अवस्था क्रमशः शोचनीय होती गई। कई स्थानों पर किसानों के विद्रोह भी हुए। नए नए करों के बोझ से जनता दबती जा रही थी। धीरे धीरे विदेशी शासन पर लोगों का विश्वास कम होने लगा। इधर सन् १८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना हुई जिसने देश में नवीन चेतना का प्रसार किया। इन सब आर्थिक और राजनीतिकि कारणों से जनता के कष्ट नित्यप्रति बढ़ते गए।

सामाजिक विचारों में भी कुछ सुधार हुए। पाश्चात्य शिक्षा के परिचय और नवीन भावों के आगमन से समाज की कतिपय कुरीतियों

की ओर लोगों की दृष्टि गई। इस समय स्वामी दयानंद का उदय हुआ जिनके आर्यसमाज ने हिंदी और हिंदू जाति की प्रगति में बहुत योग दिया। ईसाई मिशनरियों के प्रचार से कुछ लोगों के भीतर अपने धर्म और समाज के प्रति जो हीनता के भाव जगने लगे थे उन्हें बंगाल के ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज ने निकाल बाहर किया।

ऐसी परिस्थिति में, जब कि भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उथल-पुथल मची हुई थी, आधुनिक हिंदी-साहित्य का आविर्भाव होता है। इसके पहले रीतिकाल की शृंगारमयी रचनाओं से सारा काव्य-वाङ्मय भर गया था। उस काल में कविता राजदरबारों में सजधज कर राजाओं और उनके दरबारियों का मनोरंजन करने में ही अधिक लगी हुई थी। कविगण अपनी रचनाओं में राजाओं और दरबारियों की विलासी मनोवृत्ति के अनुकूल मनोरंजन और चमत्कार की अधिकाधिक मात्रा का सन्निवेश कर अपने 'अन्नदाता' को प्रसन्न करने में लगे थे।

अब बहुत से दरबारों का नाश हो जाने के कारण कवियों को राज्याश्रय छोड़कर जनता-जनार्दन के बीच आना पड़ा। छापेखाने का प्रचार हो जाने से जनता के बीच पुस्तकों का वितरण भी सुलभ हो गया था। भारतेंदु-काल के अधिकांश लेखक किसी न किसी पत्र के संपादक थे। इस प्रकार कवियों तथा लेखकों का संबंध जनता से दिन प्रतिदिन घनिष्ठ होता गया। साहित्य लोक के बीच संचरित होने-वाले मनोभावों से पूर्णतया प्रभावित हुआ। इस प्रकार लोक और साहित्य का अन्योन्याश्रित संबंध हिंदी-काव्य में पुनः स्थापित हुआ। इस नवीन जागर्ति और उत्थान का संपूर्ण श्रेय भारतेंदु और उनके मित्रमंडल को है। उन्होंने काव्य में नवीन विषयों का संनिवेश किया। इन्हीं के पुनीत प्रयत्न से हिंदी-काव्यक्षेत्र में राष्ट्रवादिता का स्वर ऊँचा हुआ। निश्चय ही वह दिन परम आनंदमय था जब भारतेंदु ने हिंदी-काव्य-मंदिर में ममतामयी, परतंत्र, म्लानमना भारतमाता की मूर्त्ति

अधिष्ठित कर अपनी श्रद्धा-भक्ति और प्रेम के भाव-पुष्प उसके पुनीत चरणों पर अर्पित किये।

देशभक्ति की भावना भी कई रूपों में व्यक्त हुई। जैसा कि कह आए हैं, इस काल के कवियों ने राजप्रशंसा में भी कुछ रचनाएँ कीं। यह राजप्रशस्ति भी उस समय देशभक्ति का एक अंग समझी जाती थी। राज-व्यवस्था देश की सुख-समृद्धि का हेतु और राजा जनता के आनंद-मंगल में तत्पर आदर्श व्यक्ति के रूप में मान्य था। इस काल की कई रचनाओं में रानी विक्टोरिया के वचनों का स्मरण दिलाकर शासकों के मन में न्यायप्रियता जागरित कर देश की आर्थिक दुर्दशा सुधारने की प्रार्थना की गई। पर इस प्रकार की याचनाएँ शुद्ध भ्रम प्रमाणित हुईं। अब कवियों ने अपनी रचनाओं में देश की आर्थिक और सामाजिक दुर्दशा से उत्पन्न क्षोभ की व्यंजना करनी आरंभ की। मँहगी और टैक्स के कारण बढ़ते हुए क्लेश का वर्णन हुआ। विदेशी वस्तुओं के विरोध और स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार में निहित कल्याण और सच्ची प्रतिष्ठा का आभास दिया गया—'रहे देश की नाक स्वदेशी कपड़े पहिनें।' देश की तत्कालीन दुर्दशा का वर्णन कर भगवान से भारत के उद्धार की प्रार्थना की गई। भारत के गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण दिलाकर वर्तमान के लिए नवीन स्फूर्ति और प्रेरणा प्राप्त करने का प्रयत्न हुआ।

इधर भारतीयों में आत्मसंमान की भावना धीरे धीरे बढ़ती जा रही थी। जब 'काले' सैनिकों ने 'गोरों' के साथ साथ विदेशों में जाकर विजय प्राप्त की तब इस काल के कवियों ने हर्ष का अनुभव किया। मिस्र में उनके विजय प्राप्त करने पर कहा गया—'ऊँचे भये आर्य-मोंछ के बार।'

ज्यों ज्यों विदेशी सत्ता की आर्थिक शोषण और निर्दयता की नीति स्पष्ट होती गई त्यों त्यों भारतेंदु-युग की रचनाओं में देशभक्ति का स्वर

भी उग्र होता गया। ईश्वर की दया पर निर्भर रहना छोड़कर आत्म-निर्भरता और आत्मत्याग की भावना का आभास देनेवाली कई रचनाएँ बालमुकुंद गुप्त आदि ने लिखी हैं। कांग्रेस के स्वदेशी आंदोलन के पहले ही देश की सच्ची स्थिति परखकर स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार और आत्मनिर्भरता द्वारा देश की अधोगति के उपचार का निदर्शन गुप्तजी की इन पंक्तियों में वर्तमान है, यह ध्यान देने की बात है—

"अपना बोया आप ही खावें,
अपना कपड़ा आप बनावें।
माल विदेशी दूर भगावें,
अपना चरखा आप चलावें।
बढ़े सदा अपना व्यापार,
चारों दिस हो मौज-बहार।"

आर्थिक स्वतंत्रा की भावना की दृष्टि से भी इस प्रकार की रचनाएँ ध्यान देने योग्य हैं। किसानों की दीन दशा का आभास भारतेंदु-काल की अनेक रचनाओं में मिलता है। कहीं कहीं तो उनके कष्टों का विशद वर्णन भी दिखाई देता है।*

---

* उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"जिनके कारण सब सुख पावें, जिनका बोया सब जन खायँ;
हाय हाय उनके बालक नित, भूखों के मारे चिल्लायँ!
काल सर्प की सी फुफकारें लुएँ भयानक चलती हैं;
धरती की सातों परतें जिसमें तावा सी जलती हैं।
तभी खुले मैदानों में वे कठिन किसानी करते हैं।
नंगे तन बालक नर-नारी पित्ता पानी करते हैं।
अहा विचारे दुख के मारे निसिदिन पच-पच मरें किसान।
जब अनाज उत्पन्न होय तब सब उठवा ले जायँ लगान।"

—बालमुकुन्द गुप्त

लोक के बीच प्रतिष्ठित भक्तिभावना को लेकर भी इस युग में अनेक रचनाएँ हुईं। इनमें आत्मनिवेदन और भक्त हृदय के सरल उद्‌गारों की अच्छी व्यंजना मिलती है। कृष्णभक्ति-शाखा की अनुरंजनकारी प्रेममयी मधुर रचनाओं का परिमाण भी प्रचुर है। कवि-गण धार्मिक आंदोलनों की ओर भी थोड़े बहुत आकृष्ट हुए। इन्होंने अनेक अंधविश्वासों और रूढ़ियों का विरोध किया। इनकी धार्मिक नीति की सबसे बड़ी विशेषता है उदार मनोदृष्टि, भ्रातृ-भावना और अन्य धर्मावलंबियों के प्रति सहनशीलता। सामाजिक सुधारों की ओर भी ये लेखक और कवि सचेत दिखाई देते हैं। इस समय हिंदू-समाज में तीन दल थे। एक दल तो अँगरेजी-शिक्षा प्राप्त उन अपरिपक्वबुद्धि नवयुवकों का था जो विदेशी भावनाओं से एकदम आक्रांत थे और सभी प्राचीन भारतीय वस्तुओं को हेय समझते थे। दूसरा दल कट्टरपंथी और रूढ़ियों से चिपके रहनेवालों का था। इन दोनों के बीच में सुधारवादी समुदाय था जो समय की गति के अनुरूप कुछ दूर तक सामाजिक रीति-नीतियों का परिष्कार कर उन्हें युग के अनुकूल ढालना चाहता था। भारतेन्दु और उनके अधिकांश सहयोगी इसी दल के अन्तर्गत आते हैं। उनकी रचनाओं में एक ओर तो विदेशी सभ्यता में रँगे नवयुवकों पर व्यंग किया जाता था और दूसरी ओर रूढ़िवादियों का उपहास भी। जहाँ एक ओर इस काल की कविताओं में अँगरेजी शिक्षा-प्राप्त स्त्रियों की अनोखी चालढाल पर व्यंग है वहाँ

× × × ×

"दीन कृषकजन औरहु दया-योग दरसावहीं;
जिनके तन पर स्वच्छ वस्त्र कहुँ लखियत नाहीं।
मिहनत करत अधिक पर अन्न बहुत कम पावत;
जे निज भुजबल हल चलाय के जगत जियावत;

—प्रेमघन

दूसरी ओर भारतेंदु देश के भीतर स्त्री-शिक्षा का सुव्यवस्थित प्रचार भी चाहते हैं और नारियों को अपने प्राचीन गौरव पर अधिष्ठित कर 'शीललाज विद्यादि' से पूर्ण शक्तिमती सीता और अनुसूया आदि के रूप में देखना चाहते हैं। छूआछूत के विरोध का आभास भी इनकी रचनाओं में मिलता है। नागरी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन, हिन्दुओं की उन्नति, देश की प्रगति—इन सब विषयों पर इस काल में अनेक रचनाएँ हुईं। प्रतापनारायण मिश्र की निम्नलिखित पंक्तियों में भारतेंदु काल की काव्यधारा में समाविष्ट सभी विचार-प्रधान भाव-धाराओं का मूल समन्वित रूप में व्यंजित है—

चहहु जो साँचौ निज कल्यान,
तो सब मिलि भारत-संतान।
जपो निरंतर एक जबान,
हिंदी हिंदू हिंदुस्तान।
तबहिं सुधरिहैं जन्म निदान,
तबहिं भलो करिहैं भगवान।
जब निसिदिन रहिहै यह ध्यान,
हिंदी हिंदू हिंदुस्तान।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन कवियों के हृदय का सामान्य लोकजीवन से पूर्ण सामंजस्य है। काव्य और लोकजीवन का संबंध स्थापित कर आधुनिक हिंदी-कविता के विकास में इन्होंने अत्यंत महत्वपूर्ण योग दिया। पर इससे यह न समझ लेना चाहिए कि इस काल में केवल इस प्रकार की सामयिक कविताएँ ही होती रहीं। प्रेम और भक्ति की मार्मिक व्यंजना भारतेंदु-युग के काव्य-साहित्य में प्रचुर परिमाण में मिलती है। यह सब होते हुए भी यह मानना होगा कि यह संक्रांति-काल ऐसी रचनाओं के विशेष अनुकूल न था जिनका अधिक स्थायी महत्व होता। इस काल की रचनाओं में विचारात्मकता

अधिक और कवि का तन्मय हृदय कम मिलता है। उनके राजनीतिक और अन्य सुधारवादी विचार जीवन के अविच्छेद्य अंग बनकर उससे पूरी तरह घुले मिले न थे। अतएव रचनाओं में व्यंजित उनके विचार पूर्ण भावमय बनकर प्रभाव की तीव्रता नहीं ला सके। सच पूछिये तो संक्रांति-काल ऐसी भावमयी साहित्य-सर्जना के विशेष अनुकूल प्रायः होता भी नहीं। इस विषय में टी० एस० इलियट का यह कथन विचारणीय है कि संक्रांति के काल में कवि प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से तत्कालीन विचारधाराओं के प्रति अतिविश्वासी हो जाता है।*

जब तक काव्य में पूर्ण भावप्रवणता नहीं आती और मार्मिक अनुभूति की उपयुक्त व्यंजना नहीं होती तब तक उसका वास्तविक स्वरूप सामने नहीं आता। पर इस बात से इस युग की रचनाओं का महत्त्व कम नहीं होता। इस काल के कवियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि काव्य को एक सँकरे पथ से निकाल कर इन्होंने उसे लोक जीवन के साथ ला मिलाया, उसमें नवीन भावों और विचारों का संनिवेश किया और देशभक्ति के रंग में उसे रँगा।

भारतेंदु-युग में काव्य और समाज का जो संबंध स्थापित हुआ वह नित्यप्रति बढ़ता गया। काव्य लोकजीवन के समीप आता गया।

द्विवेदी-युग

शिक्षाप्रसार और राजनीतिक जागर्ति के कारण लोगों में मातृभाषा के प्रति भी अनुराग बढ़ा। उधर पुरानी परिपाटी के अनुसार चली आती हुई ब्रजभाषा की शक्ति भी कुछ मन्द पड़ने लगी थी। जनता की

---

*A period of revolution is not favourable to art, since it puts pressure upon the poet, both direct and indirect, to make him overconcious of his beliefs as *held*.

The use of poetry and the use of criticism: P. 136.

वास्तविक लोकभाषा से दूर जा पड़ने के कारण उसमें पहले जैसी हृदय-ग्राहिता न रह गई। इधर, लोगों को यह बात भी खटकने लगी कि काव्य की भाषा कुछ और हो और गद्य की कुछ और। इन कारणों से शिष्ट-समुदाय में प्रचलित हिंदी के मान्य स्वरूप खड़ी बोली की प्रतिष्ठा पद्य के क्षेत्र में करने के लिए हमारे अधिकांश कवि प्रवृत्त हुए। इसी समय 'सरस्वती' (सन् १९०० ई०) का जन्म हुआ, जिसने कुछ ही दिनों बाद पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपादकत्व में युग-प्रवृत्तियों के अनुकूल साहित्य और भाषा संबंधी विकास में बहुत योग दिया। इसी समय से द्विवेदी युग का आरंभ समझना चाहिए। इस काल के सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य हैं खड़ी बोली को काव्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करना और भाषा की अव्यवस्था को दूर कर व्याकरणसम्मत व्यवस्थित भाषा का स्वरूपनिर्धारण।

भारतेंदु-युग में ही विदेशी शासन का स्थापना से सामाजिक जीवन में जो विशृंखलताएँ और असंगतियाँ प्रादुर्भूत हुई थीं वे विकसित होती जा रही थीं। पर द्विवेदी-युग में कुछ ऐसी राजनीतिक घटनाएँ हुईं जिनके कारण भारतीयों में आत्मविश्वास और आत्म निर्भरता की भावना पुष्ट हुई। अब तक यूरोपीय देशों की शक्ति और समृद्धि का आतंक एशियावासियों पर छाया रहता था। किन्तु सन् १९०४ में रूस-जापान युद्ध में जापानियों की विजय ने एशियावासियों का सिर ऊँचा किया। पाश्चात्यों का आतंक कम हुआ और आत्मगौरव का भाव लोगों के हृदय में जागरित हुआ। इधर बङ्ग-विच्छेद के प्रश्न पर स्वदेशी आन्दोलन की लहर उठी। जनता में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करने की प्रवृति अपेक्षाकृत विशेषरूप में दिखाई देने लगी। इस आन्दोलन से बहुत से लोग मातृभाषा हिंदी की ओर भी आकृष्ट हुए। 'वन्देमातरम्' का पवित्र गान देश के कोने-कोने में गूँजने लगा। कांग्रेस में भी कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। उसमें

गरमदल का प्रभुत्व हुआ जो कर्मप्रवर्तक (रचनात्मक) कार्यक्रम में विश्वास रखता था और यह भली भाँति समझता और समझाता था कि स्वाधीनता दूसरों के दान से नहीं वरन् अपने कठिन उद्योगों से प्राप्त होती है, जिसके लिए आत्मनिर्भरता का भाव आवश्यक है।

राष्ट्रीय आन्दोलनों से प्रभावित होने के कारण द्विवेदी-युग की कविताओं में देशभक्ति का जो स्वरूप व्यंजित है वह पहले की अपेक्षा कुछ व्यापक है। केवल हिंदू जाति की ही ओर अपनी दृष्टि परिमित न रखकर इस काल के कवियों ने व्यापक राष्ट्रीयता की ओर ही अधिक दृष्टि रखी जिसकी नींव भारतेन्दु द्वारा पड़ी थी।

इन कवियों को हम अतीत की ओर ही अधिक आकृष्ट न रहकर देश और समाज की तत्कालीन दशा का ध्यान रखते हुए उत्साह और आत्मनिष्ठा की भावना का संचार करते हुए पाते हैं। * मातृभूमि में जन्म लेकर, इसी धरती की धूल में खेलकर, यहाँ के अन्न-जल-वायु से पोषित, सभी जातियों और धर्मों के अनुयायी भारतवासी हैं अतएव उनके बीच भ्रातृत्व की भावना का प्रसार होना चाहिए—इस प्रकार की एकता का आग्रह साहित्य के द्वारा भी होने लगा। पर इस समय राष्ट्रीयता के उग्र भावों की व्यंजना तो दूर, देश प्रेम की बहुत स्पष्ट व्यंजना भी सुगम न थी। प्रेस के कानूनों और सेंसर की गृद्ध दृष्टि राष्ट्रीय रचनाओं पर बराबर पड़ा करती थी। द्विवेदी-युग की सबसे अधिक

---

* **नहीं रहे अधिकार तुम्हारे, न रहें, पर वे मिटे नहीं।**
जन्मसिद्ध अधिकार किसी के मिट सकते हैं भला कहीं?
भूमि वही है, जहाँ निरंतर सभी सिद्धियाँ सिद्ध रहीं।
जगत जानता है कि हुआ था आत्मबोध उत्पन्न वहीं।
बात क्या कि फिर छिन्न-भिन्न यह पराधीनता पाश न हो।
भावी का संदेश सुना, हे भारत कभी हताश न हो।

—मैथलीशरण गुप्त

लोकप्रिय रचना है गुप्त जी की 'भारत-भारती'। यह सम्भवतः १९११ में प्रकाशित हुई। इसकी कतिपय उदार भावनाएँ आज समय से बहुत पीछे मालूम पड़ती हैं पर छपने के पहले कवि को राजभय से उसमें बहुत कुछ परिवर्तन करना पड़ता था।† यहाँ तक कि 'ब्रिटिश राज्य' शीर्षक प्रशंसात्मक कविता गुप्त जी को अनिच्छापूर्वक ऊपर से जोड़नी पड़ी थी।

इस काल की राष्ट्रीय कविताओं में मार्मिकता की दृष्टि से दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। भारतभूमि के प्रति केवल विचारात्मक प्रणाली से अपना अनुराग न दिखाकर कवियों ने मातृभूमि के कई मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किए। उन्होंने मातृभूमि की परम सौंदर्यमयी प्राकृतिक दृश्यावली का वर्णन करते हुए भारतमाता के प्रति श्रद्धा-भक्ति की उस भावात्मक सत्ता का प्रसार किया जिसमें देश के प्रति सच्ची ममता के दर्शन होते हैं। इनकी रचनाओं में मातृभूमि की परम मंगलमयी मूर्ति के दर्शन कर जहाँ हृदय में ममता जगती है, उसकी विशालता और उच्चता को देखकर जहाँ गौरव का अनुभव होता है, वहीं वास्तविक जगत् में उसे दीन हीन पराधीन पाकर दुःख, ग्लानि और क्षोभ भी उत्पन्न होते हैं।

राज्य की कृषि और व्यवसाय सम्बन्धी नीति के कारण देश की आर्थिक अवस्था शोचनीय होती जा रही थी। नए करों तथा साहूकारों और जमींदारों के शोषण से किसानों का दैन्य-दुःख बढ़ता ही गया। कठोर शीत, मूसलाधार वर्षा और कड़कड़ाती धूप का ध्यान न रखकर कृषिकर्म में संलग्न सततप्रयत्नशील कर्त्तव्यनिष्ठ किसानों को अन्न मिलना भी कठिन हो रहा है—इस प्रकार के अधिक विवरण द्विवेदी-युग की कविताओं में भरे पड़े हैं।

---

† देखिए "गुप्त जी की 'भारत-भारती'"—साहित्य संदेश, अगस्त १९४१।

सामाजिक सुधारों की भी इस समय प्रगति होती ही जा रही थी। शिष्ट-समुदाय में नवीन विचारों का प्रवेश हो रहा था और समाजसुधार की ओर लोगों का ध्यान अधिक आकृष्ट होने लगा था। सामाजिक सुधारों को लेकर इतिवृत्तात्मक रचनाएँ तो इस युग में प्रचुर परिमाण में हुईं।

इस समय पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से लोगों में तर्क और संशय उत्पन्न करनेवाली बुद्धिवादिता का जन्म काव्य की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार की युगप्रवृत्ति का ही फल है कि पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय के 'प्रियप्रवास' की राधा लोकसेविका के रूप में हमारे सम्मुख आती हैं। इतना ही नहीं, तर्क और संशय के निराकरण के लिए श्रीकृष्ण के गोवर्द्धन को उँगली पर उठा लेने वाली पौराणिक कथा को उपाध्याय जी वर्त्तमान पाठक के सामने इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

लख अपार-प्रसार-गिरीन्द्र में,
व्रजधराधिप के प्रिय पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने, उसे
रख लिया उँगली पर श्याम ने।

गुप्त जी ने तो अपने 'साकेत' में सत्याग्रह, चरखा और किसान-आंदोलन का भी रंग ला दिया है। ❀

इस प्रकार द्विवेदी युग की रचनाओं में विविध युग-प्रवृत्तियों की पूरी छाप दिखाई देती है। पर मार्मिकता की दृष्टि से, अपने में लीन कर लेनेवाली रचनाएँ कम ही हुईं। इसके कई कारण हैं। एक तो भाषा को माँजकर उसमें भावसंचार की पूरी क्षमता लाने में ही विशिष्ट कविगण लगे रहे। दूसरे, व्याकरण के कठोर अंकुश और स्थूल

❀ साकेत का प्रणयन द्विवेदी युग में ही हो गया था और उसके कई सर्ग सरस्वती में प्रकाशित हो चुके थे, पर पूरी पुस्तक बाद में प्रकाशित हुई।

नैतिकता के नियन्त्रण के कारण काव्य में कल्पना अच्छी तरह खिल न सकी। इस समय की अधिकांश कविताएँ विषयप्रधान और वर्णनात्मक ही दिखाई देती हैं। जो थोड़ी बहुत आख्यानक कविताएँ हैं वे प्रायः पौराणिक हैं, और जो काल्पनिक हैं उनमें भी मर्मस्पर्शी कम है।

इस प्रकार की रचनाओं से कवियों की मानस-तृप्ति न हो सकी। द्विवेदी-युग के अंतिम काल में ही कुछ कवियों ने अपनी रचनाओं में थोड़ी स्वच्छंद मनोवृत्ति का परिचय देना प्रारंभ कर दिया था। उनमें अपेक्षाकृत मनोरम कल्पना और भाव-प्रवणता का अधिक परिचय अवश्य मिला, पर सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के पश्चात् हिन्दी कविता नूतन मार्ग पर स्वच्छंद गति से बढ़ी और उसका बहुत ही रमणीय विकास हुआ।

छायावाद युग

इस नवीन युग के निर्माता कवि अँगरेजी पढ़े लिखे उत्साह और उमंग से भरे नवयुवक थे। इन्होंने अँगरेजी के कवियों को तो पढ़ा ही था, बंगाल की कोमलकांत पदावली वाली नवोन्मेषपूर्ण कविताओं से भी ये प्रभावित हुए।

इस काल की रचनाओं पर गत महायुद्ध के पश्चात् की भारतीय राजनीतिक गतिविधि और अन्य परिस्थितियों का पूरा प्रभाव दिखाई देता है। विगत महायुद्ध में भारतीयों ने उत्साह के साथ सरकार से सहयोग किया। युद्ध समाप्त होने पर आत्मनिर्णय का अधिकार मिलने की आशा लगाए सभी बैठे थे। पर इन सब आशाओं पर कुठाराघात हुआ। युद्ध समाप्त होने पर देश के सम्मुख कल्पनातीत परिस्थितियाँ आईं, कुछ दलों के षड्यंत्रों का बहाना लेकर सरकार ने भारतीयों के दमन के लिए रौलट ऐक्ट पास किया जिसके विरोध में देशव्यापी हड़तालें हुईं और असहयोग आंदोलन का सूत्रपात हुआ। महात्मागांधी ने 'सत्यमेव जयते नानृतम्' और 'यतो धर्मस्ततो जयः' की भावना से प्रेरित होकर सत्य और अहिंसा के भावों का

राजनीतिक असहयोग के क्षेत्र में प्रचार किया। वे बंदी हुए। फिर जलियानवाला बाग का प्रसिद्ध हत्याकांड हुआ। सरकार और जनता का संघर्ष बढ़ता गया। दमनचक्र चलने लगा। सन् २१ में प्रबल राष्ट्रीय आंदोलन हुआ। फिर सन् २८ में बारडोली का सत्याग्रह और सन् ३० में नमक सत्याग्रह। इस प्रकार यह समय घोर असन्तोष और राजनीतिक संघर्ष का है। इससे देश की क्षुब्ध मनोदशा का पता चलता है।

सामाजिक दशा भी नवयुवकों के मनोनुकूल न थी। नवीन विचारों से प्रभावित होने के कारण इनकी चेतना बहुत सजग हो गई थी और प्रकृति स्वच्छन्द। पर इनके विचारों का सामाजिक स्थिति से मेल न बैठा। सुधार युवकों के मनोनुकूल न हो पाए थे। विवाहादि में जात-पांत का बन्धन आवश्यक ही बना रहा। कविगण प्रायः मध्यवर्ग के थे जिन्हें आर्थिक और सामाजिक संकटों का प्रायः सामना करना पड़ता था। सम्पत्ति के अभाव में अपने इच्छानुसार जीवन-निर्वाह सम्भव नहीं था। प्रेम और विवाह में कभी सामाजिक, कभी आर्थिक व्यवधान उपस्थित हो जाते थे। इसका फल यह हुआ कि इनकी रचनाओं में समाज के प्रति विद्रोह और असन्तोष तथा निराशा की भावना प्रबल हो उठी।

धार्मिक दृष्टि से इस समय के नवयुवक कवियों पर स्वामी रामकृष्ण, रामतीर्थ और विवेकानन्द की विचारधाराओं का प्रभाव पड़ रहा था। बँगला कविताओं की आध्यात्मिकता भी पहले पहल इन्हें बहुत रुची। इसके अतिरिक्त प्राचीन दर्शन शास्त्रों के संसर्ग में भी छायावादी कवि आए। कुछ ने तो—जैसे प्रसाद और निराला ने—इनका गम्भीर अध्ययन किया। भारतेन्दु-काल के कवियों ने जिन जर्जर रूढ़ि-शृंखलाओं को हिला दिया था उनको तोड़ने में द्विवेदी काल के कवि सफल नहीं हुए क्योंकि उनके विचार अधिकतर पुराने ही थे।

वे सुधारवादी विचार और व्यवहार में थोड़ा अन्तर रखते थे। छाया-वाद के कवि सुधारमात्र से सन्तुष्ट न थे बल्कि वे उन रूढ़ियों को हटाकर एक नवीन संस्कृति की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। फलतः व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए उनके हृदय में अदम्य उत्साह दिखाई देता है और उनकी वाणी में विद्रोह का स्वर सुनाई पड़ता है।

इस प्रकार रीतिकाल की दरबारी संस्कृति, द्विवेदीयुग की शुष्क इतिवृत्तात्मकता, स्थूल नैतिकता और समाज के तत्कालीन स्वरूप के प्रति पूर्ण विद्रोह का स्वर छायावादी कविताओं में व्याप्त है। परम्परा-युक्त प्राचीन प्रतीकों का परित्याग कर इन कवियों ने स्वतः अनुभूत नवीन प्रतीक कल्पना से कविता कामिनी का शृंगार किया। नरक्षेत्र और प्रकृति के देश में प्रेम, हर्ष, आशा और प्रफुल्लता का रमणीय प्रसार छायावादी कविता के एक पक्ष में दिखाई देता है और दूसरी ओर विद्रोह का तराना और स्वतन्त्रता के लिए छटपटाहट। इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद ने उच्चकोटि की संगीत-सृष्टि की है और मग्न करनेवाली भावधारा बहाई है।

पर जैसा कि कह आए हैं, युग की परिस्थितियों ने निराशा और विषाद के लिए भी आधार प्रस्तुत कर दिया था। इस समय व्यक्ति-वाद की जैसी लहर हिन्दी-काव्यक्षेत्र में उठी वैसी पहले कभी देखी सुनी न गई थी। यह व्यक्तिवाद आगे चलकर बहुत ही अस्वस्थ रूप में विकसित हुआ। निराशा की भावना दो रूपों में व्यक्त हुई। एक तो वेदनावाद या दुःखवाद के विषण्ण स्वर के रूप में, और दूसरे वर्तमान जगत् की कठोरता से पलायन के रूप में। वेदनावाद या दुःखवाद कहीं तो व्यक्तिगत निराशा के रूप में प्रकट हुआ और कहीं दुःखवादी या मायावादी दार्शनिक सिद्धांतों का सहारा लेकर एक विशेष निराशामूलक वेदनामय जीवन-दर्शन (Philosophy)

के रूप में। निराशा, पलायनवादी मनोवृत्ति और व्यक्तिवाद का चरम-विकास आगे चलकर मधुमत्त आनंदवादी श्री बच्चन की रचनाओं में दिखाई पड़ा था। (अब यह बात नहीं है। बच्चन जी अब जीवन में 'नवल हास' और 'नवल बास' देख रहे हैं।)

छायावाद की संपूर्ण काव्य-रचनाएँ वास्तविक सामाजिक जीवन से विलग नहीं रहीं। छायावादी कवियों ने सामाजिक ❀ और देश-भक्ति † सम्बन्धी मार्मिक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। निराला की 'भिक्षुक'

दो एक उदाहरण—

❀ एक तपःपूत करुणामयी हिंदू विधवा का चित्र—

उस करुणा की सरिता के मलिन पुलिन पर,
लघु टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ाकर
अति छिन्न हुए भींगे अंचल में मन को—
दुख रूखे सूखे अधर—त्रस्त चितवन को
वह दुनिया की नजरों से दूर बचा कर,
रोती है अस्फुट स्वर में;
दुख सुनता है आकाश धीर,—
निश्चल समीर,
सरिता की वे लहरें भी ठहर ठहर कर।....

—निराला

† अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा
....

× × × ×

हिमाद्रि तुंगशृंग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती
प्रशस्त पुण्य पंथ है, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो
अमर्त्य वीर पुत्र हो, बढ़े चलो बढ़े चलो।

— प्रसाद

'इलाहाबाद पथ वह तोड़ती पत्थर', पंत की 'माँ मेरे जीवन की हार' (वीणा) तथा 'गुंजन' की अनेक रचनाएँ और प्रसाद के कई मुक्तक और आख्यानक काव्य इसके प्रमाण हैं। काव्य के क्षेत्र में मनुष्यमात्र की महत्ता का प्रतिपादन और विश्वबन्धुत्व की भावना का विकास इस युग में दिखाई देता है। इसी युग में सामाजिक विषयों पर छोटे-छोटे मर्मस्पर्शी काल्पनिक आख्यानों (काव्य के क्षेत्र में) की सृष्टि भी हुई है। इस ढंग की सरस रचनाएँ प्रस्तुत करने वालों में सियारामशरण गुप्त मुख्य हैं। इनकी ऐसी रचनाओं में पात्रों की उन मनोवृत्तियों का अच्छा उद्घाटन हुआ है जिनसे सामाजिक स्थिति पर काफी प्रकाश पड़ता है।

छायावादी कवियों के साथ एक ऐसा दल भी चल रहा था जो भारतेंदु द्वारा काव्य में प्रवर्तित राष्ट्रीय धारा का बराबर विकास करता गया। इन कवियों में से कुछ तो राजनीति में सक्रिय योग भी देते रहे। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और सुभद्राकुमारी चौहान ऐसे ही कवि हैं। इन्होंने देशभक्तिपूर्ण अत्यन्त मार्मिक रचनाएँ की हैं। इसका एक कारण यह भी है कि राष्ट्रीयता के भाव और विचार इनके जीवन के अविच्छेद्य अंग बनकर काव्य में उद्भूत हुए हैं। चतुर्वेदी जी की अधिकांश रचनाएँ कलात्मक आवरण में सामने आती हैं। 'झाँसी की रानी' की रचयित्री सुभद्रा जी की कविताएँ बिल्कुल सीधी सादी और सरल पर प्रभावोत्पादक हैं। नवीन जी की रचनाओं में मस्ती और उत्साह का गहरा रंग है। इन्होंने क्रांति के गीत भी गाए हैं। इनकी क्रांति यद्यपि कहीं-कहीं विध्वंसक भी है पर दीनजनों की दुर्दशा से क्षुब्ध आक्रोशमयी वाणी इनकी रचनाओं में सर्वत्र सुनाई पड़ती है।

इसके अतिरिक्त 'दिनकर' 'मिलिन्द' आदि और भी कई उत्साह-वर्धक राष्ट्रीय रचनाएँ करने वाले कवि इसी समय खड़े हुए हैं

यह दूसरी बात है कि कभी-कभी इनमें 'विपथगा' क्रांति का विध्वंसकारी नाद भी सुनाई पड़ जाता है।

यह सब तो गौण काव्य-प्रवृत्तियों की बात हुई, प्रधानता इस युग में शुद्ध छायावादी कविताओं की ही रही। शुद्ध छायावादी कविताओं की अत्यधिक कलात्मकता और प्रेम-निवेदन की विवृति के कारण कतिपय कवि स्वयं भी ऊब उठे। ये कविताएँ काव्य और कला की दृष्टि से चाहे उच्च हों पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि जनता के वास्तविक जीवन से ये बहुत दूर जा पड़ीं। छायावाद की बहुत सी कलापूर्ण रचनाएँ सुनकर या पढ़कर प्रसन्न होनेवाले चाहे पर्याप्त शिक्षित व्यक्ति मिल जायँ पर उन्हें ठीक ढंग से समझनेवाले अब भी कम हैं।

छायावादी कविताओं का प्रचलन धीरे-धीरे कम होने लगा। 'छायावाद' के प्रतिनिधि कवि श्री सुमित्रानंदन पंत 'रूपाभ' में युगवाणी सुनाने का प्रयत्न करने लगे। उसके संपादकीय में उन्होंने लिखा—

"इस युग की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार ग्रहण कर लिया है उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गए हैं। श्रद्धा अवकाश में पलनेवाली संस्कृति का वातावरण आंदोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्न-जड़ित आत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है। अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उसकी जड़ों को अपनी पोषण सामग्री धारण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है।"

['रूपाभ' (वर्ष १ संख्या १)—जुलाई १९३८]

इस समय, राजनीतिक जगत में भी कुछ ऐसा परिवर्तन होता है जिसका हिंदी काव्यधारा की वर्तमान प्रवृत्ति से घनिष्ठ संबंध है। अब तक राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस पर केवल गांधीवाद का ही व्यापक प्रभाव

था। गांधीवाद एक स्वतंत्र जीवन-दर्शन है जिसका मूल भौतिक आधार है मानव प्रेम और अहिंसा। यह राजनीति के क्षेत्र में भी अहिंसात्मक सत्याग्रह का प्रयोग करता है। इसके अनुसार जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य आत्मा की आध्यात्मिक उन्नति और भगवत्प्राप्ति है। लोक सेवा और मानव प्रेम की भावना के प्रसार से ही इस लक्ष्य की पूर्ति हो सकती है। अहिंसात्मक सत्याग्रह के द्वारा अत्याचारियों और शोषकों का हृदय-परिवर्तन कर समाज के दैन्य-दुःख और अत्याचार का अंत किया जा सकता है। आर्थिक सुधार के लिए आत्मनिर्भर ग्रामों की स्थापना और कार्य-संघटन होना चाहिए।

गांधीवाद की इस विचारधारा से भिन्न मार्क्सवाद की नीति है। रूस में इसके अनुसार शासन व्यवस्था हो जाने के कारण यूरोप में इसके विचारों का प्रसार हुआ। भारत में भी मार्क्सवाद की चर्चा होने लगी।

मार्क्सवाद के अनुसार सृष्टि का मूल भौतिक पदार्थ या भूततत्त्व (मैटर) है जिसका विकसित रूप है वर्तमान जगत। जगत् निरंतर परिवर्तनशील है; पर यह परिवर्तन ईश्वर अथवा अन्य किसी सर्वशक्तिमान परोक्ष सत्ता द्वारा संचालित न होकर स्वयं ही घटित होता रहता है। प्रस्तुत अवस्थान (थीसिस) के भीतर आंतरिक असंगतियाँ (इनर कान्ट्रेडिक्शन्स) प्रादुर्भूत होती हैं जिनके भीतर उनके विनाश के बीज निहित रहते हैं। इन असंगतियों के बढ़ते-बढ़ते एक ऐसी अवस्था आती है जब पूर्व अवस्थान नष्ट हो जाता है और प्रत्यवस्थान (एण्टी-थीसिस) प्रतिष्ठित होता है। इस प्रत्यवस्थान के भीतर आगे चलकर पुनः असंगतियाँ उत्पन्न होकर बढ़ती जाती हैं और उसके स्थान पर फिर एक समवस्थान (सिन्थेसिस) का निर्माण होता है। तात्पर्य यह कि यह सृष्टि दो विरोधी तत्त्वों के

मार्क्सवाद-प्रगतिवाद

द्वन्द्व से स्वयं ही गतिशील होती रहती है। कुछ काल तक उसमें दोनों विरोधी तत्वों की साम्यावस्था (इक्विलिब्रियम) रहती है, फिर स्वतः क्षोभ उत्पन्न होने पर उनमें द्वन्द्व होता है और अंत में एक नया अवस्थान होता है जिसमें इन शक्तियों की साम्यावस्था रहती है। इस प्रकार द्वन्द्व और परिवर्तन का क्रम निरंतर चला करता है। इन दो विरोधी शक्तियों की द्वन्द्वावस्था में एक ऐसी स्थिति आती है जब मात्रा (क्वान्टिटी) के साथ साथ वस्तु या पदार्थ में गुणात्मक परिवर्तन अत्यंत वेगपूर्वक (क्रांति की दशा) होता है। मात्रा और गुण का यह परिवर्तन-क्रम भी सदा चलता रहता है। इस सिद्धान्त को मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (डायलेक्टिक मेटीरियलिज्म) कहते हैं।

जगत् का मूल जिस प्रकार भौतिक पदार्थ (मैटर) है उसी प्रकार समाज-संघटन का मूल आधार उसकी आर्थिक व्यवस्था है। जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की उत्पादिका शक्ति के विकास के अनुरूप ही समाज के व्यक्तियों का पारस्परिक संबंध स्थापित होता है। उत्पादक संबंधों के संघटन से ही समाज का आर्थिक ढाँचा खड़ा होता है, जिस पर मनुष्य की समस्त कार्य-प्रणालियाँ—राजनीति, धर्मनीति और साहित्य आश्रित हैं। इसी विचार-प्रणाली के अनुसार मार्क्सवादी 'इतिहास की अर्थमूलक व्याख्या' (एकनामिक इंटरप्रिटेशन आफ हिस्ट्री) करते हैं।

समाज के वर्तमान दुःख-क्लेश तथा वैषम्य का कारण है वस्तुओं के उत्पादन, विनिमय और वितरण पर थोड़े से पूँजीपतियों का अधिकार। इसीलिए समस्त समाज प्रधानतः दो वर्गों—शोषक और शोषित—में विभाजित हो गया है। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन से ही वर्ग-गत स्वार्थों और समाज के वैषम्य का नाश हो सकता है। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करना आवश्यक है, और यह सब होगा क्रान्ति के द्वारा। क्रांति वर्ग-संघर्ष

के चरम विकास की अवस्था में ही घटित हो सकती है, अतः समाज में वर्ग-चेतना उत्पन्न करनी चाहिए।

मार्क्सवाद के अनुसार वर्त्तमान अवस्था में आमूल परिवर्तन होने पर ही वैषम्य मिट सकता है इसलिए मार्क्सवादी लोग पीड़ितों की दशा में सुधार मात्र से संतुष्ट नहीं होते। पीड़ितों के लिए अधिकारियों और धनिकों का हृदय-परिवर्तन कर दया और कृपा की भीख भी वह नहीं चाहते; क्योंकि उनकी दृष्टि में धनिकों के उपकार और दया दीनजनों के असंतोष को दबाने के साधनमात्र हैं। मार्क्सवाद का उद्देश्य है राज-शक्ति हस्तगत कर एक नवीन वर्ग विहीन समाज की स्थापना, जिसमें आर्थिक आधार की विषमता नष्ट होकर समाज के सभी व्यक्तियों को अपने विकास के लिए समान सुविधाएँ प्राप्त होंगी। यह सब कुछ होगा क्रांति के द्वारा।

इस क्रांति में मजदूरों से ही पूरी सहायता मिल सकती है, किसानों से नहीं; क्योंकि मार्क्सवादी की दृष्टि में किसानों की कोई स्वतंत्र विचारधारा नहीं होती। ये लोग थोड़े बहुत सुधारों से ही संतुष्ट हो जाया करते हैं। पुरानी राजनीतिक व्यवस्थाओं और देवी देवताओं में विश्वास होने के कारण सामाजिक दशा में आमूल परिवर्तन इन्हें इष्ट नहीं होता। इसलिए इनसे तो काम चलेगा नहीं। विशेष रूप से मजदूरों में ही वर्ग संघर्ष की चेतना उद्‌बुद्ध कर, क्रांति के द्वारा श्रमिकों का राज्य स्थापित कर, वर्ग-विहीन समाज का निर्माण करने में ही सच्चा कल्याण है।

भारत में मार्क्सवादी सिद्धांतों के अनुयायी कुछ नवयुवकों ने सन् १९२७ में ही अपना एक 'कम्युनिस्ट दल' बनाया जिसकी नीति रूस के संकेतों पर निर्धारित होती है। मार्क्स और एंजेल्स स्वयं अपने को कम्यूनिस्ट कहते थे। वैसे कम्यूनिज्म शब्द तो पहले से भी प्रचलित था पर एक विशिष्ट राजनीतिक संप्रदाय की संस्था के रूप में

मार्क्स और एन्जेल्स ने 'कम्यूनिस्ट लीग' की स्थापना सन् १८४७ में की जिसके एक साल बाद १८४८ में कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो प्रकाशित हुआ। एन्जेल्स के शब्दों में 'कम्यूनिज्म सर्वहारा वर्ग (प्रोलेटेरिएट) की मुक्ति का मार्ग बतलाने वाला सिद्धान्त है'। इस कथन में आया 'प्रोलेटेरिएट' (सर्वहारा वर्ग) शब्द फ्रेंच से उधार लिया गया है जिसका अर्थ है गरीब। पर इसका मूल है लैटिन प्रोलेटेरिन्स (proletarius)। प्रोलेटेरिन्स उन संपत्तिविहीन नागरिकों को कहते थे जिन्हें दरिद्र होने के कारण राज्य की सेवा अपने बच्चों द्वारा करनी पडती थी। पर अब इस शब्द का तात्पर्य है उस व्यक्ति से जिसकी जीविका का साधन केवल शारीरिक श्रम है।

एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के अनुसार 'कम्यूनिज्म समाजवाद (सोशलिज्म) के ही अंतर्गत एक विशिष्ट आंदोलन है जिसका लक्ष्य भी वही है - उत्पादन के साधनों पर से व्यक्तिगत स्वामित्व हटाकर एकाधिपत्य का उन्मूलन। कम्यूनिज्म की अपनी विशेषता इस बात में है कि इसके अनुसार इस उद्देश्य की पूर्ति का एकमात्र साधन क्रांति है। समाजवाद क्रान्ति को, ऐतिहासिक और सामाजिक अवरोधों को दूर करने के लिए, अंतिम उपाय के रूप में अस्वीकार नहीं करता, पर कम्यूनिज्म क्रांति को अनिवार्य समझता और खुले आतंक पर आधारित सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को ही समाजवादी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने का साधन मानता है।'

'समाजवाद' शब्द का बहिष्कार कर मार्क्स और एन्जेल्स ने 'कम्यूनिज्म' शब्द का प्रयोग क्यों किया, इसका उत्तर एन्जेल्स ने कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो (सन् १८८८ वाला संस्करण) की भूमिका में दिया है। उसका कहना है कि 'सन् १८४७ में समाजवादी साधारणतः एक ओर तो काल्पनिक व्यवस्थाओं (utopian sytstems) से चिपके रहनेवाले व्यक्ति समझे जाते थे और दूसरी ओर सुधारक, जो पूंजी और मुनाफे को

कोई खतरा पहुँचाए बिना तरह तरह से सभी सामाजिक अन्यायों को दूर करने की बात बघारते थे। ये दोनों तरह के लोग श्रमिक वर्ग के आंदोलन से दूर रहने वाले और सहायता के लिए शिक्षित वर्ग का मुँह जोहने वाले थे। इनके विपरीत श्रमिक वर्ग का जो भी अंश केवल राजनीतिक क्रांतियों की निस्सारता से भली भाँति अवगत हो गया था और जिसने आमूल सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता घोषित की वह अपने को कम्यूनिस्ट कहने लगा। हमारा विचार आरंभ ही से यह था कि श्रमिक वर्ग के उद्धार का कार्य निश्चित रूप से स्वयं श्रमिक वर्ग का ही होना चाहिए, अतः इन दोनों में से हम कौन सा नाम ग्रहण करें, इस विषय में हमारे लिए कोई असमंजस नहीं रहा।'

कम्यूनिस्ट नाम क्यों ग्रहण किया गया, यह बात अब स्पष्ट हो गई होगी। पहले भारत में यह दल गैरकानूनी था इसलिए अधिक लोग इसमें नहीं आ पाए। इधर कांग्रेस के भीतर भी एक "कांग्रेस समाजवादी" दल संघटित हुआ जो तत्कालीन परिस्थिति में तो कांग्रेस की नीति का बहुत कुछ अनुसरण करता था पर पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति और देश की आर्थिक विषमताओं का पूर्ण उपचार अंततोगत्वा मार्क्सीय दर्शन के मूल सिद्धान्तों द्वारा ही संभव मानता है।※ पहली बार कांग्रेस

※ सन् ४८ में समाजवादी दल कांग्रेस से अलग हो गया। इस दल की कुछ मुख्य विशेषताएँ ये हैं--सब से पहली बात यह है कि समाजवादी मार्क्स के मूल सिद्धांतों को मानते हुए भी अपने देश की वर्तमान अवस्था के अनुकूल उसकी व्याख्या करते हैं रूस के पालिट ब्यूरो से ये नियंत्रित नहीं होते। दूसरे ये राष्ट्रीय हितों को प्रधानता देते हैं। रूस में स्थापित अधिनायकवादी समाजवाद से इनका विरोध है; ये लोकतांत्रिक समाज-वाद की स्थापना चाहते हैं। तीसरे गांधीवाद से प्रभावित होने के कारण ये कम्यूनिस्टों की भाँति लक्ष्य या साध्य के ही औचित्य का विचार नहीं करते वरन् साधन के औचित्य का भी पूरा ध्यान रखते हैं।

मंत्रिमंडल स्थापित होने पर 'कम्यूनिस्ट दल' भी सरकारी बंधनों से मुक्त हुआ और नवयुवकों के बीच इस दल के विचार पहले से अधिक फैलने लगे। साहित्य के क्षेत्र में इन्हीं विचारों के नवयुवकों ने प्रगतिवाद का आंदोलन पहले पहल खड़ा किया।

यदि यह आंदोलन न खड़ा होता तो भी हमारे काव्य साहित्य में सामाजिक भावना और राष्ट्रीयता का विकास अवश्य होता, यह बेखटके कहा जा सकता है। छायावाद के विशिष्ट कवियों में भी एकांतिकता के स्थान पर सामाजिक भावना की प्रवृत्ति धीरे-धीरे स्वयं प्रस्फुटित होती जा रही थी। निराला जी की कविताएँ और पंत जी के 'गुंजन' तथा 'युगांत' इसके प्रमाण हैं। ऊपर हम देख ही आए हैं कि किस प्रकार छायावाद-युग के भीतर ही देशभक्ति की भावना भी धीरे धीरे काव्य में पल्लवित हो रही थी। पर 'प्रगतिवाद' का आंदोलन चल पड़ने पर पंत जी आदि भी उस समय उसी में सम्मिलित हो गए और प्रगतिवाद का प्रवाह चल पड़ा।

प्रगतिवाद का इतिहास

प्रगतिवाद अन्दोलन और संघ की स्थापना

'प्रगतिवाद' शब्द का प्रयोग हिन्दी में चाहे जब हुआ हो पर वर्तमान अर्थ में सामान्य रूप से यह पद सन् १९३६ से हिन्दी साहित्य में प्रचारित होने लगा, जब लखनऊ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' * का प्रथम अधिवेशन हुआ और उसके सभापति हुए प्रेमचंद जी। अपनेभाषण में उन्होंने साहित्य में बढ़ती हुई प्रेम

---

* प्रगति शील लेखक संघ (प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोशिएशन) अब एक अन्तर्राष्ट्रीय संघटन के रूप में हो गया है। अनेक देशों में इसकी शाखाएँ हैं। इसकी स्थापना सन् १९३५ में हुई और प्रसिद्ध अङ्गरेजी लेखक ई० एम० फारेस्टर के सभापतित्व में इसका पहला अधिवेशन पेरिस में हुआ। डा० मुल्कराज आनन्द और सज्जात जहीर के उद्योग से भारतीय प्र० ले० सं० की स्थापना लंदन में इसी साल हुई और इन्हीं व्यक्तियों ने सन् ३६ में इसे लाकर भारतवर्ष में स्थापित किया। इसके पहले अधिवेशन के सभापति प्रेमचन्द जी और दूसरे के महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर हुए।

और वेदना की लहर की तीव्र आलोचना की। उन्होंने कहा कि साहित्य केवल मनोरञ्जन की वस्तु नहीं है। वर्तमान काल में जब कि हमारे समाज और देश की अवस्था संकटापन्न है, हमें ऐसा साहित्य निर्मित करना चाहिए जिसमें वर्तमान विपन्नावस्था का प्रतिबिंब हो और उससे परित्राण पाने के लिए आशापूर्ण सन्देश निहित हों। "नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश-विधि में अन्तर है। नीतिशास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है।······मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह साहित्य को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ।······फूलों को देखकर हमें इसलिए आनन्द होता है कि उनसे फलों की आशा होती है।"

अंतिम वाक्य ध्यान देने योग्य है। प्रगतिवादी काव्य सिद्धांत भी इस उपयोगितावादी मत का कट्टर प्रचारक है। पर मार्क्सवादी सिद्धांतों का उल्लेख प्रेमचन्द जी के भाषण में नहीं है। आर्थिक परिस्थितियों और वर्गसंघर्ष की विभिन्न दशाओं के बीच रखकर साहित्य की परीक्षा करने का उपक्रम अभी तक नहीं हुआ था। यह हुआ कुछ दिन बाद 'विशाल भारत' में प्रकाशित एक लम्बे लेख में।* इस लेख में मार्क्सवाद, वर्गसंघर्ष और भौतिकवाद की लम्बी चर्चा के साथ ही वर्तमान साहित्य को पूँजीवाद की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों का द्योतक बताया गया और वर्गवादी साहित्य की सृष्टि का आग्रह किया गया।

---

* "भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता" लेखक—श्रीशिवदानसिंह चौहान; 'विशालभारत' मार्च १९३७।

प्रगतिवादी काव्य का आरंभ

(प्रगतिवादी काव्य की स्पष्ट पर प्राथमिक दशा की झलक जुलाई सन् १९३८ में श्री सुमित्रानंदन पंत और श्री नरेन्द्रशर्मा के संपादकत्व में निकलने वाले कालाकाँकर के मासिक पत्र 'रूपाभ' में मिली। रूपाभ थोड़े ही दिनों बाद बंद हो गया। इधर प्रगतिवाद की विशद व्याख्याएँ और रचनाएँ काशी के 'हंस' में व्यवस्थित रूप से प्रकाशित होने लगीं, जब से (सन् १९४१) उसके संपादक श्री शिवदानसिंह चौहान हुए। इस बीच प्रगतिवाद की चर्चा अन्य पत्र पत्रिकाओं में भी होती रही। हिंदी साहित्य सम्मेलन के पूना-अधिवेशन में पं० नंददुलारे वाजपेयी ने हिंदी काव्य की इस नवीन प्रवृत्ति पर विस्तृत प्रकाश डाला।)

अब तक पंतजी की 'युगवाणी' प्रकाशित हो चुकी थी और बहुत से कवियों ने इस प्रकार की रचनाएँ लिखनी प्रारंभ कर दी थीं। आलोचना के क्षेत्र में भी मार्क्सवादी विचारों से रँगे लेखों के दर्शन होने लगे।

(मार्क्स के भौतिकवाद से प्रभावित होकर रचनाएँ करने वालों में पंत जी सब से आगे आए। इन भौतिकवादी विचारों को लक्ष्य में रखकर पहले पहल लिखी गई प्रगतिवादी रचनाएँ इनकी 'युगवाणी' 'मानवपशु' और श्री रामविलास शर्मा की 'कलियुग' और 'हड्डियों का ताप' हैं।) रूपाभ के अंकों में पंतजी की नए ढंग की कई कई रचनाएँ एक साथ प्रकाशित होने लगीं। इससे बहुत से नवयुवक कवि इस ओर आकृष्ट हुए। पंतजी की ऐसी रचनाओं के कुछ अंश उद्धृत किए जाते हैं —

"आत्मा ही बन जाय देह नव,
ज्ञान ज्योति ही विश्वस्नेह नव
हास अश्रु आशाऽआकांक्षा

बन जायँ खाद्य, मधु, पानी।
युग की वाणी !"

(युगवाणी)

× × × × ×

"युग युग से रच शत-शत नैतिक बंधन,
बाँध दिया मानव ने पीड़ित पशु-तन।
विद्रोही हो उठा आज पशु दर्पित,
वह न रहेगा अब नव युग में गर्हित।
नहीं सहेगा रे वह अनुचित ताड़न,
रूढ़ि नीतियों का गत निर्मम शासन।
वह भी क्या मानव जीवन का लांछन?
वह मानव के देहभाव का वाहन।
नहीं रहे जीवनोपाय तब विकसित,
जीवन-यापन कर न सके तब इच्छित।
नैतिक सीमाएँ कर बहु निर्धारित,
जीवन इच्छा की जन ने मर्यादित।

\+ + + + +

देव और पशु, भावों में जो सीमित,
युग युग में होता परिवर्तित, अवसित।
मानव-पशु ने किया आज भव अर्जित,
मानव-देव हुआ अब वह सम्मानित।
मानव के पशु के प्रति,
मध्यवर्ग की हो रति।"

(मानव पशु)
—रूपाभ, जुलाई, ३८

"आज सत्य, शिव, सुन्दर केवल
वर्गों में है सीमित,
ऊर्ध्वमूल संस्कृति को होना
अधोमूल है निश्चित ।"
(मूल्यांकन)
—रूपाभ, अगस्त '३८

इन पंक्तियों में पीड़ित जन-समुदाय की उस विपन्नावस्था का वर्णन है जिसे समाज के उच्च वर्ग ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए सम्भव बनाया है। शत शत नैतिक बन्धनों के जाल बिछा कर निम्नवर्ग को समाज ने जकड़ लिया था पर आज उसमें नवीन जागर्ति और चेतना का आविर्भाव हो गया है। अब वह रूढ़ियों और नीतियों के अनुचित ताड़न नहीं सहेगा। वर्तमान समय में सत्य शिव और सुंदर वस्तुएँ उच्चवर्ग की सीमा में ही संकुचित हैं। ऐसे वर्ग समाज का नाश करके धरा में ऐसा स्वर्ग समुपस्थित करना चाहिए जिसमें न तो श्रेणी-संघर्ष हो, न रूढ़ियों का जाल हो और न जहाँ 'जन-श्रम-शोषण' हो।

इस प्रकार नवीन काव्य की मूल विचारधारा का परिचय पहले पहल पंतजी ने ही दिया। अतएव हिंदी में प्रगतिवादी (सांप्रदायिक) काव्य के सूत्रपातकर्ता वे ही ठहरते हैं और प्रगतिवाद काल प्रारंभ होता है सन् १९३८ से।

ऊपर उद्धृत पंक्तियों में जिस राजनीतिक विचार का आभास मिलता है उसका पूरा विस्तार पंतजी की रचनाओं में हुआ, पर ध्यान देने की बात यह है कि उन्होंने वर्ग संघर्ष और हिंसात्मक क्रांति का प्रचार नहीं किया है। जहाँ उन्होंने रूढ़िवादियों की भर्त्सना की है वहाँ संकीर्ण भौतिकवादियों के दृष्टि विस्तार की कामना भी प्रकट की है। स्थूल राजनीतिक मत-मतांतरों से, अन्य प्रगतिवादी कवियों की

अपेक्षा, अपने कवि का रूप एकदम आच्छन्न हो जाने से कुछ न कुछ बचाने का प्रयत्न भी उन्होंने किया है। उनकी नवीन परिवर्तित दृष्टि की कुछ सूचना उनके इस कथन में है—"ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा, क्योंकि मैंने दोनों का लोकोत्तर कल्याणकारी पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के अंदर श्रमजीवियों के संगठन, वर्ग-संघर्ष आदि से सम्बन्ध रखने वाले बाह्य-दृश्य को, जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनीतिक क्रांतियाँ ही कर सकती हैं, मैंने अपनी कल्पना का अंग नहीं बनने दिया है।"* और इसीलिए यदि कोई कट्टर प्रगतिपंथी यह कहता मिले कि 'पंतजी जहाँ पहले थे वहीं अब भी हैं'† अथवा 'अब भी उनके दृष्टिकोण में हम कोई मौलिक अंतर नहीं देखते' तो समझना चाहिए कि असली शिकायत यह है कि पंतजी अब भी अपना कवि रूप बनाए ही चल रहे हैं।

हिंदी में प्रगतिवाद की लहर चल पड़ने पर उन रूसी और अँगरेजी कविताओं की बहुत अधिक चर्चा चलने लगी है जो मार्क्स-वाद के साँचे में भलीभाँति ढली हैं। अतः संक्षेप में यहाँ रूसी और अंग्रेजी के वर्तमान काव्य साहित्य का परिचय दे देना आवश्यक प्रतीत होता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कविता और समाज का अविच्छेद्य सम्बन्ध है अतः सामाजिक मनोभावों का प्रतिबिंब उस पर पड़ना अवश्यम्भावी है। इतना ही नहीं, उसमें ऐसे उत्थानमूलक भावों का भी सन्निवेश होना चाहिए जो जन-मन को कर्म-प्रेरक उत्साह प्रदान

---

* आधुनिक कवि—सुमित्रानन्दन पंत; पृ० १० (प्रथम संस्करण)

† ये बातें 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की रचना के समय इन्हीं रचनाओं को लक्ष्य करके कही गई थीं। अब 'स्वर्णकिरण' और 'उत्तरा' जैसी रचनाओं के प्रकाशन के बाद स्थिति बदली दिखाई देती है

कर सकें। पर यह ध्यान भी होना ही चाहिए कि अपने कुछ विशेष गुणों के कारण जिस रचना-प्रकार का नाम काव्य पड़ा उसमें उन गुणों की अवस्थिति आवश्यक है, अन्यथा उसे काव्य न कहकर कुछ और कहना होगा। पर इन बातों पर ध्यान गया नहीं। प्रसिद्ध रूसी राजनीतिक क्रांति के पश्चात् वहाँ ऐसे नियम बनाए गए जिन्होंने साहित्य को भी अपने ही संकेतों पर चलने को बाध्य किया।

आधुनिक रूसी काव्य

रूसी क्रांति के पहले वहाँ कवियों के दो प्रधान दल थे—भविष्य का सुख स्वप्न देखनेवाले 'भविष्यद्वादी' (फ्यूचरिस्ट), और फ्रायड के मनोविज्ञान से प्रभावित प्रतीक-पद्धति पर चलनेवाले 'मूर्तिकल्पनावादी' (इमेजिस्ट)। भविष्यद्वादी दल के भीतर ही मार्क्सवाद के प्रचारक कवि भी थे। मूर्तिकल्पनावादियों का दल तो अपने दुरूह व्यक्तिवैचित्र्यवाद के कारण कुछ दिनों बाद स्वयं ही समाप्त हो गया था। रह गए भविष्यद्वादी। बाद को इनकी भी आवश्यकता नहीं रह गई, क्योंकि क्रांति के पश्चात् तो एक नए समाज का स्वरूप प्रस्तुत ही हो गया था। अब प्रस्तुत रूसी समाज व्यवस्था और राजनीति से सहमत कवियों ने एक नया वाद फिर खड़ा किया, जिसका नाम रखा समाजवादी यथार्थवाद (इस विषय पर इसी पुस्तक में आगे विस्तार से विचार किया गया है)। इनका कहना है कि समाज की प्रगतिशील शक्तियों को पहचान कर उनकी अभिवृद्धि में साहित्य को योग देना चाहिए। और यह प्रगतिशील तत्त्व है मार्क्सवादी बिचार-धारा। इसका प्रसार करने में कवियों को जुट जाना चाहिए। अर्थात् प्रचारवादिता कवियों का मुख्य लक्षण ठहराया गया। अब व्यावहारिक पक्ष देखिए। आर्थिक उन्नति के लिए रूस में 'पंचवर्षीय योजना' और 'सामूहिक कृषि-कार्य-संघटन' आदि की व्यवस्थाएँ हुई। कवियों और लेखकों से आग्रह किया गया कि वे इन योजनाओं को सफल बनाने के लिए अपनी रचनाओं के द्वारा

इन योजनाओं के स्वरूप तथा लाभों से समाज को अवगत कराएँ। साहित्यकारों के दल इन प्रयोगात्मक व्यवस्थाओं का निरीक्षण करने के लिए भेजे गए जिससे वे ठीक ठिकाने से इनका प्रचार कर सकें। मार्क्सवादियों के अनेक साहित्यिक संघ भी स्थापित हुए, अर्थात् इनका साहित्यिक मोर्चा (लिटरेरी फ्रंट) कायम हुआ। ये संघ नवीन व्यवस्थाओं की प्रशंसा करते और मार्क्सवादी विचारों की व्यंजना अपनी रचनाओं में करने का आग्रह लेखकों से करते थे। यही नहीं, रूस के शासनाधिकारी भी इन साहित्यिक संघटनों को निर्देश देते रहे, जिनके अनुसार लेखकों को अपनी नीति निर्धारित करनी पड़ती थी। साहित्य की कोई अपनी सत्ता वहाँ नहीं रह गई। वह राजनीति का अनुगामी और प्रचारक हुआ। अधिकांश नवयुवक लेखक अपने को 'पहले मार्क्सवादी फिर और कुछ' समझने लगे।❀ आरंभिक मार्क्सवादी कवियों में प्रधान है मायाकोव्स्की। यह एक उच्चकोटि का कवि था। भावों का उत्कर्ष और काव्य-कल्पना की सौंदर्यच्छटा इसकी अनेक रचनाओं में देखने को मिलती है। इसकी क्रांति के पश्चात् की रचनाओं में भी कई मनोहर काव्य-स्थल मिलते हैं। ऐसी ही रचनाओं के कारण साहित्य में उसकी प्रतिष्ठा होगी। पर रूस में राजनीतिज्ञों ने जब साहित्य पर तरह तरह के बंधन लगाए तब उन्हीं के निर्देशों पर रूसी काव्य चलने लगा। मायाकोव्स्की ने भी यही पथ ग्रहण कर लिया। उसने कहा कि 'मैं काव्य की उच्चभूमि से कम्यूनिज्म के बीच कूद रहा हूँ, क्योंकि अन्यत्र मुझे प्रेम-भावना नहीं मिलती।............

❀ उदाहरण के लिए एक रूसी कवि ने लिखा है—

I carry my Membership card not in my pocket but in myself"—Bezymensky

मैं सोवियत के लिए 'सुख का उत्पादन' करनेवाला कारखाना हूँ" इत्यादि। †

इन सब का फल यह हुआ कि रूसी काव्य साहित्य एक पूर्व-निश्चित विचारधारा के अनुसार निर्मित होने लगा जिससे उसमें कृत्रि-

---

† I
hurl myself into Communism,
from the heights of Poetry above,
because without it,
for me,
there is no love,
× × × ×
I'm a Soviet factory,
manufacturing happiness.
× × × ×
I want the pen,
to equal the gun,
to be listed
with iron
in industry.
And the Polit Bureau's agenda :
Item 1,
to be Stalin's Report on
"The output of Poetry":
"It's like this......
and that............
Out of burrows
the working class
has climbed right up
to the top of the tree :
In the Union Republics
the pre-war level's
been far surpassed
in the understanding
of Poetry............"
—From *"Homewards"*—translated by Herbert Marshall

मता और प्रचारवादिता का प्राधान्य हुआ।* वस्तुतः वर्तमान रूसी काव्य का अधिकांश भाग संक्रांतिकालीन साहित्य है जिसमें स्थायित्व बहुत कम है। वह एक समय-विशेष की सम्पत्ति है।

यह सब होते हुए भी कुछ रचनाएँ काव्य के प्रकृत स्वरूप का आभास देती रहीं। धीरे-धीरे कवियों पर से सरकारी नियंत्रण भी कम होने लगे थे। वहाँ के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ भी साहित्य पर राजनीतिक नियंत्रण का दुष्परिणाम देखने लगे थे। यदि गत महायुद्ध न आता तो संभव है कि साहित्य पर लगाए गए राजनीतिक प्रतिबंध बहुत कम कर दिए गए होते। प्रतिबंधों के रहते भी कुछ नैसर्गिक काव्य रचनाएँ होती रहीं पर अधिक परिमाण में उत्कृष्ट काव्य-कृतियाँ वर्तमान रूसी साहित्य में निर्मित नहीं हो सकीं यह निर्विवाद है। अतः रूस के संक्रांतिकालीन संपूर्ण काव्य-साहित्य को आदर्श या अनुकरणीय बताना उचित नहीं प्रतीत होता, विशेषतः तब जब कि साहित्य मर्मज्ञ विद्वान् इस प्रचारवादी मनोवृत्ति से बहुत ही असंतुष्ट हैं।

अब आधुनिक अंगरेजी काव्य का थोड़ा परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

आधुनिक अंगरेजी काव्य

विगत महायुद्ध के पश्चात् जो नैराश्य और अवसाद का अंधकार यूरोप में फैला उसका वहाँ के जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। साहित्य के क्षेत्र में भी उलट-फेर हुआ। काव्य में इतने अधिक प्रयोगात्मक परिवर्तन हुए, 'वादों' की इतनी विवृति हुई और रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से इतना अधिक कलाविलास हुआ कि बहुत से लोग इन सब परिवर्तनों को विस्मय-विमूढ़ होकर देखते रह गए। एजरा पाउंड और कमिंग्स जैसे कवियों ने अवचेतन मन की लीलाओं को

---

* "Literature in Soviet Russia, like everything else, is planned; it is artificially reared and looked after, it cannot develop free and untrammelled."

—*Soviet Russian Literature* by Gleb Struve.

विस्तारपूर्वक दिखाया और शब्दों तथा ध्वनियों के टुकड़े-टुकड़े करके असामान्य भावों का प्रदर्शन करने की चेष्टा की।

युद्धोत्तरकालीन कवियों में पहले सबसे अधिक ख्यात हुए टी० एस० इलियट। उन्होंने सन् १९०७ में एक कविता-संग्रह प्रकाशित किया जिसकी सर्वाधिक उल्लेख्य रचना है 'प्रूफ्राक का प्रेम-संगीत' (लवसांग आफ अलफ्रेड प्रूफ्राक)। यह प्रूफाक नामक एक अधेड़ व्यक्ति का स्वगत-कथन (सालोलाकी) है जिसमें प्रत्यभिज्ञाजन्य असम्बद्ध भावों (फ्री असोसिएशन आफ आइडियाज) के प्रकाशन द्वारा वह अपनी मानसिक स्थिति का चित्रण करता है। इसमें आधुनिक मनोविश्लेषण के अनुसार इस संक्रांतिकाल के मनुष्य के भावजगत् का चित्र उपस्थित किया गया है। पर इलियट की प्रसिद्धि का आधार 'वेस्ट लैण्ड' है जो सन् १९२२ में प्रकाशित हुआ। इसमें उसने युद्ध की विनाशकारी शक्तियों से ध्वस्त अपने समाज को 'एक टूटी-फूटी मूर्तियों के ढेर' के रूप में देखा है। युद्धोत्तर काल में समाज की जो विशृंखल स्थिति हो गई थी उसका पूरा प्रतिबिंब इस रचना में दिखाई देता है। पुराने विश्वास टूट रहे हैं, पुराने आदर्श ढह रहे हैं, पुरानी संस्कृति की जड़ हिल गई है, नीति और धर्म पर लोगों की आस्था नहीं रही—प्राचीन परंपरा का निदर्शन करनेवाली कोई वस्तु अब नहीं बचेगी। यान्त्रिक सभ्यता मानवजीवन पर चतुर्दिक प्रभाव डालकर उसे विनाश की ओर ले जा रही है। आसुरी शक्तियों की प्रबलता बढ़ती जा रही है। चारों ओर निराशा ही निराशा दिखाई देती है। मानव जीवन के परित्राण की अब कोई आशा नहीं बच रही। व्यर्थ है सब कुछ। अब मृत्यु ही में मुक्ति है, उसी की गोद में शांति मिल सकती है।—इस प्रकार के विचार 'वेस्ट लैण्ड' में मुखरित हुए हैं।

इलियट पुरातन-प्रेमी कवि हैं। प्राचीन संस्कृति, साहित्य, कला—

सब में इनकी अगाध श्रद्धा है। इनकी दुर्गति देखकर ये क्षुब्ध हो उठे। आधुनिक सभ्यता के प्रति इनका विद्रोह रचनाओं में फूट पड़ा है। पर इस विद्रोह और असंतोष की परिणति अंततः चरम नैराश्य में होती है जहाँ मंगलाशा की कोई गति नहीं। इनकी कविताओं में भाव की अपेक्षा बुद्धि की प्रधानता है अतः उनमें व्यंग का पूरा सन्निवेश हुआ है। रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से इनकी रचनाएँ रुक्ष और गद्यात्मक हैं और सामान्य पाठक के लिए इनका समझना कठिन है। जो विशृंखलता इन्होंने समाज में देखी वही विशृंखलता इनकी रचनाओं के कला पक्ष में भी मिलती है।

(इलियट और उनके अनुयायियों की ऐसी नैराश्यमूलक रचनाओं के प्रति प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। जीवन की चरम परिणति मृत्यु में नहीं है। कर्तव्यनिष्ठ मानव अपनी शक्ति से अवसादजनक परिस्थितियों का नाश करके आनन्द की प्रतिष्ठा कर सकता है। इन विचारों के कवियों ने उपरिनिर्दिष्ट निराशा के विरोध में नवीन आशा के गीत सुनाने प्रारंभ किए। सन् १९३० से इन्होंने अंगरेजी कविता की नवीन धारा बहाई। ये अधिकतर मार्क्सवादी विचारधारा के माननेवाले हैं और सामूहिक उन्नति के लिए कविता को साधनस्वरूपा मानते हैं। इनका कहना है कि कविता मुट्ठीभर धनिकों की मनोरंजन-सामग्री नहीं है, बहुसंख्यक मजदूरों की सम्पत्ति है। इस समय संसार में दो वर्ग हैं—शोषक और शोषित। हमें यह निर्णय कर लेना होगा कि हम किसका पक्ष लेंगे। बीच में रहने से काम नहीं चलेगा, कोई एक पक्ष स्वीकार करना ही होगा। कवि दूसरे वर्ग का पक्ष लेगा और कविता उसके उत्थान और शोषकों के नाश में पूरा पूरा योग देगी। ऐसे विचारों वाले कवियों में प्रसिद्ध हैं डब्ल्यू० एच० आडेन, स्टेफेन स्पेंडर और सेसिल डे लेविस।)

इन्होंने मुख्यरूप से नवीन समाज व्यवस्था लाने के लिए आकुलता

व्यंजित करने वाली रचनाएँ कीं जिनमें मजदूरों के संघटन आदि की भी चर्चा रहती है। पर बहुत अधिक जोश होने और साम्यवाद स्थापित करने में प्रयत्नशील होने के लिए पाठक को उत्तेजित करते रहने के उद्देश्य से लिखी गई रचनाओं में काव्य का सच्चा रूप प्रायः छिप जाता है और सामान्य कोटि की प्रचारात्मकता सामने आ जाती है। इनकी बहुत सी पंक्तियाँ नारों के संकलन या अखबारों के मोटे शीर्षक सी प्रतीत होती हैं। विशिष्ट आलोचकों ने ऐसी कृतियों में अत्यधिक विचारात्मकता और प्रचारवादिता के दोष देखे हैं। ऐसे बहुत से कवियों की रचनाएँ उनके यथार्थ जीवन से दूर और केवल मस्तिष्क की उपज होने के कारण वास्तविकता से दूर और कृत्रिम हैं। * केवल मजदूरों के निमित्त लिखी गई रचनाओं का कोई अर्थ उनके लिए नहीं है जबतक कि उनका (कविताओं का) स्तर बहुत निम्न न हो और उनमें छिछली भावुकता को प्रश्रय न मिला हो। ‡

---

* The trouble with most of these poets is that they do not trust their emotions. They are afraid of giving themselves away, with the result that intellect predominates over feeling. And the range of their experience is limited. We may hazard a guess that Auden's workers and clerks are not half as sorry for themselves as he would have us believe.

—*The Outline of Literature* ; by John Drinkwater ; revised and extended by Hugh Pollock and Campbell Nairne ; Page 967.

‡ 'Poetry for the Workers' became atonce an ideal and a cant phrase, for poetry, unless it is diluted to the point at which it becomes the doggerel vehicle of sentiment, rarely interests the masses—though among the masses as well as among the classes there are a few to whom poetry is a necessity.

—*Twentieth Century Literature* ; by A. C. Ward ; page 198.

काव्य-सिद्धांत

काव्य— प्रातिबिंबिक सत्ता

काव्य प्रतिबिंबिक सत्ता है। प्रतिबिंब किसका? प्रतिबिंब उस दृश्य जगत् का जो समस्त चर और अचर सृष्टि की समष्टि है। इस सृष्टि अथवा व्यक्त सत्ता के अंतर्गत जड़ प्रकृति, जीव-जंतु तथा मानवसमूह सभी आते हैं। मानव-समूह समाजों में संघटित है। इन समाजों तथा इनकी विभिन्न व्यवस्थाओं का संघटन व्यक्तियों के पार-स्परिक रागात्मक संबंध ने संभव बनाया है। राग-विराग की यह प्रवृत्ति-निवृत्ति हमारी मनुष्यता के साथ साथ लगी है। समाज से दूर बन के एकांत में रहने वाले व्यक्ति का भी इनसे छुटकारा नहीं। जिस वृक्ष की सुखद छाया में वह आश्रय लेगा उसके प्रति ममत्व का अनुभव करेगा; पक्षिवृंद का प्रातःकालीन मधुर कलरव सुनकर वह प्रसन्न होगा और वहाँ कुछ ऐसी पूतिगंधमय वस्तुएँ भी होंगी जिन्हें वह नहीं चाहेगा। कहने का तात्पर्य इतना ही कि राग-विराग की प्रवृत्ति अर्थात् मनोभाव मनुष्य

जीवन के साथ हैं। काव्य इन सभी---प्राकृतिक जगत और प्राणि समाज तथा उसके बीच संचरित होने वाले मनोभावों—का प्रतिबिंब है।

काव्य का उद्भव और विकास

सभ्यता के विकास के बहुत पहले मनुष्य जंगलों में रहता था। जीवन-यापन के लिए उसे आज जैसी सुविधाएँ नहीं प्राप्त थीं। भावों का आदान प्रदान भी सुगम न था। पर सुख-दुःख राग-विराग की सहज अनुभूति तो उसे होती ही थी। प्रकृति के किसी सुषमा-मंडित रहस्यमय दृश्य को देखकर वह विस्मय-विमुग्ध हुआ और किसी त्रासकारी दृश्य को देखकर उसे डर भी लगा; किसी सुहावने व्यक्ति को उसने प्यार किया, किसी मनोज्ञ वत्स के प्रति उसके मन में ममता जगी, विद्रूप वस्तु या व्यक्ति से उसे ग्लानि या घृणा हुई; क्षुधा-तृप्ति पर उसे संतोष और भूख लगने पर कष्ट का अनुभव हुआ। अपने मन के इन विभिन्न भावों को उसने पहले संकेतों और अस्पष्ट ध्वनियों द्वारा व्यक्त किया। धीरे धीरे शब्दों का निर्माण हुआ। एक शब्द से, एक सार्थक ध्वनि से, सब लोग एक साथ ही एक ही वस्तु या भाव का ग्रहण करने लगे। इस प्रकार जब शब्दों में ऐसी संकेतात्मकता या प्रतीकात्मकता आ गई कि उनके द्वारा एक प्रकार के भाव सर्वग्राह्य हो सकें तब भाषा बनी। दैनिक जीवन के व्यवहार में आते आते भाषा मँजती गई और उसमें बहाव आता गया। यही बहाव लय या संगीत-तत्त्व है। सामूहिक, आनंदोत्सव, यज्ञ, आखेट यात्रा आदि के अवसरों पर इसी लय युक्त भाषा का व्यवहार होने लगा। पर यह पूर्ण कविता नहीं हुई।

समाज का कुछ विकास हो जाने पर लोक हृदय को पहचानने वाले कुछ विशिष्ट व्यक्तियों या प्रातिभों ने इसी लययुक्त भाषा में सामान्य हर्ष विषाद के भाव व्यक्त किए। इन्हीं ऋषियों ने काव्य की नींव डाली।

इनका हृदय लोक भावनाओं का संघात था, जिससे काव्य सरिता की धारा प्रवाहित हुई। इनकी व्यक्तिगत सुख-दुःख की भावनाएँ लोक हृदय में लीन हुई थीं। व्यक्तिगत हानि लाभ की भावना से दूर इनकी वाणी ने ही लोक के मनश्चक्षुओं के सम्मुख भावसौंदर्य और कर्मसौंदर्य की विभूति का उद्घाटन किया। यह सत्वोद्रेकानंदमयसंवित् वाणी ही काव्य-निर्मात्री है। मानव समाज ही नहीं, वरन् इन्होंने समस्त चराचर के साथ तादात्म्य का अनुभव किया था। ऐसे ही विशाल हृदय के साथ काव्य का संबंध है।

ज्यों ज्यों समाज का विकास होता गया और सभ्यता की वृद्धि के साथ साथ उसमें जटिलता आती गई, त्यों त्यों मनुष्य भी इसमें उलझता गया। समाज की विभिन्न व्यवस्थाओं से उत्पन्न अनेक जटिल भावों का भी प्रभाव उस पर पड़ने लगा। लोक का आनन्द भी इन व्यवस्थाओं पर ही बहुत कुछ निर्भर हुआ। इसलिए उसके हृदय पर इन सबका भी प्रभाव पड़ने लगा। पर यह कहना कि आर्थिक व्यवस्थाओं के अनुरूप ही काव्य भी निर्मित होने लगा पूर्ण सत्य नहीं है, आंशिक चाहे हो। काव्य का सीधा संबंध हृदय के भावों से है। वे भाव कभी सामाजिक, कभी राजनीतिक और कभी आर्थिक समस्याओं से प्रभावित अवश्य होते रहे हैं पर इसीलिए यह नहीं कहा जा सकता कि काव्य का मूल आधार केवल आर्थिक ही है। मार्क्सवादी आलोचक काडवेल काव्य के आर्थिक मूलाधार के लिए कठोर आग्रह करता है। * पर सच पूछिए तो काव्य का क्या, जीवन का भी आधार केवल आर्थिक नहीं है।

---

* Poetry is regarded, then, not as something racial, national, genetic or specific in its essense, but as something economic.

—*Illusion and Reality; Page 7.*

मनुष्य की सबसे प्रधान इच्छा है सुख या आनन्द की प्राप्ति। इसकी प्राप्ति के लिए वह सुख-सामग्री एकत्र करता और जगत् के नाना जटिल व्यापारों में उलझता है। पर यदि मनुष्य केवल अपने व्यक्तिगत सुख का ही ध्यान रखने लगे तब तो यह उसकी घोर स्वार्थपरता हुई। उसके सुख या आनन्द की सामग्री की भी परिमिति होनी चाहिए जिससे उसके दूसरे साथियों को कष्ट न हो। उसे अपने आनन्द के साथ लोक के आनन्द का भी ध्यान होना चाहिए। यही नहीं, लोक के आनन्द में उसे भी सुख मानना चाहिए, अन्यथा समाज का सुचारु संघटन ही नहीं हो सकता। इसीलिए समाज का संघटन पारस्परिक सौमनस्य के आधार पर होता है, जिसे पुराने लोग 'धर्म' कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य पहले किसी बात की इच्छा करता है और फिर उसकी पूर्ति के लिए सुख सामग्री एकत्र करता है। पर उसकी व्यक्तिगत इच्छा और सुख सामग्री-संकलन पर सामाजिक सौमनस्य के नियमों का अंकुश भी रहता है। मानवजीवन के विकास के लिए इन सभी का योग आवश्यक होता है, केवल अर्थ का ही नहीं।

सामाजिक सौमनस्य

काव्य पर इन स्थूल व्यवस्थाओं का भी प्रतिबिंब पड़ता तो है पर मूलतः उसकी जन्मभूमि हृदय है। वह हृदय, जो अपनी भावात्मक सत्ता के पूर्ण विस्तार का अनुभव विश्वात्मा में लीन होकर ही करता है।

काव्य का प्रधान लक्ष्य है मनुष्य की भावात्मक सत्ता का विस्तार। यह होता है उसकी रागात्मक वृत्तियों को तीव्र और परिष्कृत करने से। रागात्मक वृत्तियाँ हृदय से उत्पन्न होती हैं और यह हृदय ही काव्य की प्रकृत भूमि है। काव्य का संबंध इन रागात्मक मनोवेगों से ही है। ये मनोवेग आर्थिक स्थिति के साँचे में ढलकर नहीं निकलते, चाहे विभिन्न युगों में इनके प्रकाशन के ढंग में बाहरी परिस्थितियों के प्रभाव से कुछ स्वरूप-

काव्य का लक्ष्य

विभिन्नता दिखाई पड़ जाती हो। पर इन बाहरी परिस्थितियों का भी आर्थिक स्थिति एक अंगमात्र है।

काव्य की रागात्मक सत्ता का विस्तार कभी तो प्रकृति के वैभव के बीच होता है और कभी मानव समाज के बीच। उसकी कल्पना जगत् से बाहर किसी अक्षय सौंदर्य और आनंद के लोक में भी विचरण करती है। पर यदाकदा ही। इस प्रकार काव्य की मुख्य भूमियाँ दो ही ठहरती हैं - प्रकृति क्षेत्र और मानव समाज। प्रकृति के व्यापारों में कवि लीन अवश्य होता है और पाठक या श्रोता को भी लीन कराना चाहता है किंतु काव्य की विस्तृत भूमि मानव-समाज ही है। केवल प्रकृति के व्यापारों से काव्य का लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकता, वह हमारे जीवन में स्फूर्ति लाने या उद्दीपन करने के लिए है। कदाचित् इसीलिए भारतीय शास्त्रों में प्रकृति के व्यापार उद्दीपन के अंतर्गत रखे गए हैं। इस प्रकार मानव-समाज ही सर्वप्रमुख काव्य की विस्तृत भूमि ठहरता है। अतः यहाँ हम उसी का विचार करते हैं। प्रगतिवादी काव्यधारा भी मानव समाज को ही काव्य भूमि मानकर चलती है।

समाज में मनुष्य रहते हैं। मानव जीवन से ही समाज की भी सत्ता है इसी जीवन की व्यंजना काव्य या साहित्य में होती है। पर मनुष्य तो व्यक्तिरूप से सदा नहीं बना रहता। कुछ दिन तक जीवित रहकर जगत् के गतिशील चक्र में एक धक्का देकर वह यहाँ से चला जाता है। पर क्या इसी भाँति काव्य की सभी कृतियाँ भी अपने कर्ताओं के साथ ही साथ समाप्त हो जाती हैं? क्या उनका आकर्षण, उनका सौंदर्य, उनकी मर्मस्पर्शिता भी थोड़े ही काल के उपरांत नष्ट हो जाती है? हम बराबर देखते आ रहे हैं कि ऐसा तो नहीं है। बाल्मीकि, कालिदास, तुलसी और होमर, शेक्सपीयर, शेली आदि की रचनाएँ आज भी हमारे मर्म का स्पर्श करती हैं, हमें हर्षोत्फुल्ल करतीं और

प्रकाश देती हैं। तो फिर क्या कारण है इनके दीर्घकाल-व्यापी अस्तित्व और प्रभाव का ? वे भी तो जीवन से ही संलग्न हैं।

दो प्रकार के काव्य

काव्य में कहीं तो अनित्य सामयिक समस्याओं और स्थितियों का वर्णन होता है और कहीं ऐसे नित्य सौंदर्य का उद्घाटन होता है जिसकी सत्यता और प्रभावोत्पादकता अनेक युगों को पार कर भी विपर्य्ययहीन बनी रहती है। पर ये सामयिक समस्याएँ भी जीवन की ही हैं और सौंदर्य भी जीवन का ही है। सामयिक समस्याएँ सामयिक आवश्यकताओं की उपज हैं और सौंदर्य हृदय के विशुद्ध भावों का निर्माण। सामयिक समस्याओं से उद्भूत रचनाओं का महत्त्व तो आवश्यकता की पूर्ति हो जानेपर समाप्त हो जाता है पर मानवहृदय की विशुद्ध भावभूमि पर उत्पन्न रचनाओं का महत्त्व तब तक बना रहेगा जब तक मनुष्य के हृदय में भावों का संचार। मानवहृदय की यह विशुद्ध भावात्मक सत्ता ही एक ऐसा सूत्र है, जो सभी युगों में, सभी कालों में मनुष्य को एक दूसरे से संबद्ध रखता है। मानव-हृदय का यही भावात्मक अंश जीवन की अखंडता और व्यापकत्व की अनुभूति कराता है। उसी का विस्तार हमारे वर्तमान जीवन के पहले भी था, वर्तमान समय में भी है और भविष्य में भी रहेगा। इसी एकत्व की अनुभूति के कारण हम अतीत की ओर आकृष्ट होते हैं और भविष्य की आनंद-कल्पना से प्रसन्न। यदि केवल स्वार्थ की दृष्टि से देखें तो अतीत के गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या लाभ ? और जिस भविष्य में हम न रहेंगे उसकी आनंद-कल्पना और उसके लिए प्रयत्न क्यों ? तब तो वर्तमान जीवन में सुख भोग लेना ही हमारे सारे कर्मों का चरम लक्ष्य होता। पर ऐसा नहीं है। हमारा आनंद तभी पूर्ण होता है जब हमारी दृष्टि वर्तमान के अतिरिक्त आगे और पीछे भी जाती है। इसी भाव से आर्य गृहस्थ अपने मृत पूर्वजों के प्रति कृतज्ञतापूर्वक नतमस्तक होता है और अनेक

बाह्य उपचारों द्वारा अपनी श्रद्धा के फूल उनकी स्मृति में अर्पित करता है। तर्क और संशय के आधार पर चाहे भारतीयों की इस मनोवृत्ति की हँसी उड़ायी जाय पर हमें तो मनुष्य की भावात्मक सत्ता का पूर्ण विस्तार इसमें दिखाई देता है। इस दीर्घकालव्यापिनी भावात्मक सत्ता की अनुभूति में योग देना ही काव्य का उच्चतम लक्ष्य है।

इस प्रकार कहना चाहें तो कह सकते हैं कि काव्य दो प्रकार का होता है १—सामयिक जीवन की व्यंजना करने वाला और २—अनन्तकालव्यापी मानवजीवन की भावात्मक सत्ता का आभास देने वाला। दूसरा प्रकार काव्य का उच्च और शाश्वत स्वरूप उपस्थित करता है और पहला उसका कनिष्ठ तथा अनित्य स्वरूप। आवश्यक दोनों ही हैं पर सामयिक जीवन की व्यंजना करनेवाले काव्य या साहित्य को ही उत्कृष्टतम ठहराना अनुचित है।

सामयिक जीवन की व्यंजना करने वाले साहित्य को हम महत्त्वहीन नहीं मानते। हमारा कहना केवल इतना ही है कि दूसरे प्रकार के उच्चतम काव्यों को अपदस्थ करने के असफल उपक्रम में शक्ति नष्ट नहीं करनी चाहिए और दूसरी ओर सदा वर्तमान पर ही दृष्टि रखकर काव्य की परख करना भी समुचित नहीं। वैसे तो नवीन ज्ञान विज्ञान से प्रभावित होना प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति के लिए आवश्यक है और फलतः इन नवीन विचारों से साहित्य भी प्रभावित होगा, पर केवल इनके संकेत पर ही सत्साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता। काव्य या साहित्य की भी स्वतन्त्र सत्ता है जिस पर जीवन के बाह्य उपकरण प्रभाव डालते रहते हैं क्योंकि वह (काव्य) जीवन से संलग्न है। पर ये बाह्य उपकरण (राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ) औपचारिक हैं, काव्य के नित्य अंश नहीं। राजनीति अथवा किसी सामयिक नीति के 'वाद' समय-समय पर प्रवर्तित और नष्ट विनष्ट

हुआ करते हैं पर साहित्य इस प्रकार नष्ट विनष्ट नहीं हुआ करता। वह विनष्ट नहीं हुआ करता इसलिए काव्य की एक अपनी विशिष्ट स्वतन्त्र सत्ता है। काव्य की एक स्वतन्त्र सत्ता है इसलिए उसके कुछ अपने निर्माणात्मक अवयव भी हैं जिनके संयोग से उसका स्वरूप खड़ा होता है।

काव्य के उपादान

काव्य का पहला निर्माणात्मक अवयव है भाव। इसकी मार्मिक व्यञ्जना के लिए कल्पना का योग अपेक्षित है। ऐसी कल्पना जो अनुभूति के आधार पर खड़ी हो और सामान्यतः सहृदयों द्वारा सहजग्राह्य हो; तभी वह ऐसा मूर्तिविधान कर सकेगी जिसका प्रत्यक्षीकरण पाठक कर सकेंगे। अनुभूति की तीव्रता और कल्पना की सुष्ठु मूर्तिमत्ता के आधार पर ही काव्य की शक्तिमत्ता और कवि विशेष की अन्तर्वृत्तियों की महत्ता का उद्घाटन होता है। काव्य में कवि का कोई न कोई सन्देश निहित रहता है। वैसे सामान्यतः उसके सन्देश का आधार तो सार्वभौम एकत्व की अनुभूति ही है, पर साधनभेद से प्रत्येक महान् कवि के सन्देश की विशेषता अलग-अलग होती है। बात यह है कि प्रत्येक कवि की अपनी-अपनी विचारधारा, चिन्तना और इनसे उत्पन्न कुछ अपने अनुभव-जन्य निष्कर्ष होते हैं। इनकी व्यंजना वह अपनी रचना में करता है। पर ये निष्कर्ष या संदेश अनुभूति की भूमि पर कला के आवरण में प्रतिष्ठित होते हैं। ज्ञानोपलब्धि और चिन्तन मनन से मनुष्य कोई महान् विचारक तो हो सकता है पर कवि नहीं। कवि के लिए ऐसी नैसर्गिक प्रतिभा चाहिए जिससे वह सामान्य भावों की तीव्र अनुभूति कर मूर्तिमयी कल्पना के योग से कलात्मक सौंदर्य-सृष्टि कर सके। यह तो सर्वमान्य ही है कि प्रत्येक विचारक कवि नहीं हो सकता, पर प्रत्येक महान् कवि विचारक भी होता है, इसीलिए उसकी कृति में कोई महान् संदेश निहित रहता है।

यहीं काव्य की नीतिमत्ता और भावप्रवणता का स्वरूप निर्दिष्ट हो जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि काव्य मुख्यतः एक भावात्मक सृष्टि है जिसमें लोक सामान्य अनुभूतियों की व्यंजना रहती है और जिसके अंतर्गत कवि की कल्पना, चिंता और आकांक्षा का समाहार होता है।

काव्य हम क्यों पढ़ते हैं ? क्या ज्ञानोपलब्धि के लिए ? इसके लिए तो विचारात्मक पुस्तकों में सुव्यवस्थित सामग्री मिल सकती हैं। तब क्या कर्म की प्रेरणा ग्रहण करने के लिए ? इसके लिए तो 'आवश्यकता' ही प्रेरित करती है। क्या ऐतिह्य के परिचय के लिए हम काव्य पढ़ते हैं ? पर इसके लिए तो इतिहास की बड़ी बड़ी पुस्तकें प्राप्य है। तब ? यह निश्चित है कि सामान्य पाठक इन सब उद्देश्यों की पूर्ति के लिए काव्य नहीं पढ़ता। वह काव्य पढता है आनंद प्राप्ति के हेतु।

काव्य पठन क्यों ?

तो क्या काव्य का कोई प्रयोजन नहीं, कोई उद्देश्य नहीं ? विद्वत्समाज यह भी नहीं मानता कि वह निरुद्देश्य है, केवल मनोरंजन की वस्तु है। काव्य हमें आनंद देता है, हमारा मनोरंजन करता है, पर हमें कुछ ऐसा भी दे जाता है जो महत्त्वपूर्ण है, महान् है। वह हमारे व्यक्तिगत रागद्वेष के प्रपंच से हमें हटाकर विशुद्ध भाव की उस उच्च भूमि पर ले जाकर विचरण कराता है जहाँ हम सारे विश्व के साथ ऐकात्म्य का अनुभव करते हैं। दूसरे के दुःख पर हम दुःखी होते हैं, दूसरे की पीड़ा का अनुभव कर हम रोते हैं और दूसरे के हर्ष और आनंद में हम भी आह्लादित होते हैं। यही नहीं समस्त चर अचर को हम उसी एक महाप्राण में सप्राण पाते हैं, जिसने हमारा हृदय भी स्पंदित कर रखा है। हमारी सत्ता का विश्वात्मा में लय हो जाता है। जो आत्मा नहीं मानते, परमात्मा नहीं मानते वे भी तो किसी एक शक्ति की सत्ता स्वीकार करते हैं जिसने इस सृष्टि की उत्पत्ति और विकास को संभव

बनाया। जिससे यह सृष्टि गतिमान है। यही वह शक्ति है जिसके द्वारा सृष्टि का पालन और संहार होता है, इसी शक्ति से सूर्य भी भास्वर है। यही शक्ति अग्नि में दाह बनकर और पवमान में गति का रूप धरकर स्थित है। इसके बिना शिव भी शव हैं। समस्त ब्रह्मांड के चर अचर में यही व्याप्त है और इसी की कल्पना ईश्वर, विश्वात्मा आदि के रूपों में हुई है। यही एक सत्ता सर्वभूतों में स्थित है जिसका सच्चा अनुभव काव्य ही कराता है। हमारी संकुचित मनोवृत्तियों का परिष्कार कर वह उनका प्रसार करता है। इतना ही नहीं, हमारी कुंठित या सुप्त मनोभावनाओं को जगा कर वह उन्हें उदात्त बनाता है।

इस प्रकार की संवेदनात्मक अनुभूति उत्पन्न करने के कारण काव्य परोक्षरूप से लोक कल्याण में योग देता है। समाज के व्यक्तियों का पारस्परिक सौमनस्य काव्य की संवेदनशीलता को और भी दृढ़ बनाता है। सत्कर्म की प्रेरणा भी इससे मिलती है, पर उपदेश और नीति-निर्धारण के द्वारा नहीं, वरन् अनुभूति के माध्यम से। तात्पर्य यह कि कर्म की प्रेरणा काव्य दे सकता है, पर शुद्ध काव्य का निर्माण कर्म की प्रेरणा के लक्ष्य से सहेतुक नहीं होता। सभी उच्चकोटि के काव्य उच्चभावों से ओतप्रोत होते हैं और उनका प्रभाव पाठक के हृदय पर पड़ता है। इस प्रकार उन उच्चभावों के अनुसार उसके मनमें प्रेरणा उत्पन्न हो सकती है। पर काव्य का मूल लक्ष्य यह नहीं है कि वह खेत काटने के लिए किसानों को तत्पर करे। हल चलाता हुआ किसान यदि 'कहत कबीर सुनो भाई साधो···' या 'तुलसीदास भजो भगवाना' गा उठता है तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि काव्य हल चलाने के श्रम को हल्का बनाने के लिए ही निर्मित होता है या होना चाहिए। काव्य की उपर्युक्त व्यावहारिक विशेषताओं को भी देखकर संस्कृत के पुराने आचार्यों ने उसका साध्य चतुर्वर्ग धर्म, अर्थ काम और मोक्ष कहा है,

काव्य और लोक-कल्याण

पर व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर भी उन्होंने काव्य को ले जाकर केवल 'अर्थ' ही पर नहीं पटक दिया। 'अर्थ' में भी उसका संबंध हो सकता है पर काव्य का मूल लक्ष्य न तो ये व्यावहारिक आवश्यकताएँ हैं और न इन्हें दृष्टि में रखकर उच्चकोटि के काव्य की रचना होती ही है।

युग की विभिन्न परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का प्रभाव कवि पर पड़ता है, उसकी भाव-भूमि भी लोकस्वीकृत ही होती है, अतएव उसकी रचना पर काल-विशेष की बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता ही है। काव्य-विशेष के रचनाकाल में कौन कौन सी भावनाएँ और चिंताएँ समाज के बीच संचरित हो रही थीं; अपने युग की प्रवृत्तियों से लोग किस प्रकार प्रभावित हुए और कहाँ तक उनके अनुसार चले और कहाँ तक उन परिस्थितियों को परिवर्तित करने में सफल हुए—इन सभी का अन्वेषण काव्य में किया जा सकता है और निश्चय ही यह उसकी एक उपयोगिता भी है, पर इनका प्रतिबिंब मात्र दिखाने के लिए सत्काव्य की न तो रचना होती है और न ऐसा आग्रह करनेवाला कोई काव्य-नियामक सिद्धांत ही बनाया जा सकता है।

जीवनगत दो शक्तियाँ

अरस्तू ने जीवन-गत दो शक्तियों का उल्लेख किया है—एक वह जो जीवन को संभव बनाती है और दूसरी वह जो जीवन को श्रेष्ठतर बनाती है। काव्य इस दूसरी शक्ति से प्रादुर्भूत और जीवन के उन्नयन में योग देनेवाली वस्तु है। प्रश्न हो सकता है कि सबसे पहली आवश्यकता तो जीवन की स्थिति बनाए रखने की है। पर विचार करने पर जीवनको श्रेष्ठतर बनानेवाली शक्ति के मूल में ही जीवन की संभावना छिपी मिलती है। जीवन धारण करने के साथ ही साथ मनुष्य की अंतर्वृत्तियों का भी स्फुरण होता है, पर उन्हें परिष्कृत बनाकर व्यवहृत करने में ही जीवन की सफलता है, जन्म की सार्थकता है। काव्य जीवन को श्रेष्ठतर बनानेवाली शक्तियों के विकास में ही सहायक होता है।

हमारी सभी शारीरिक क्रियाएँ हमारे जीवन को संभव बनाती हैं पर उसे श्रेष्ठतर बनाने का कार्य तो मस्तिष्क और हृदय के योग से ही संभव है। उस हृदय के मूल आधार पर खड़ा होकर काव्य मानव जीवन की ऐसी श्रेष्ठ शक्तियों के मूर्तरूप का प्रत्यक्षीकरण और अनुभव कराता है जो किसी दूसरे साधन से संभव नहीं। इसलिए गोस्वामी तुलसीदास ने उसे सबका हित करनेवाली सुरसरि के समान बताया है—

कीरति भनिति भूति भलि सोई,
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।

मानव जीवन को श्रेष्ठतर बनानेवाली शक्तियों की वृद्धि में सहायता देकर कविता इस प्रकार सभी कालों में सबका हित भी करती है। सामयिक जीवन की स्थिति पर भी उच्चकोटि की काव्य सर्जना हो सकती है जिसका मूल्य चिरंतन हो। यह तब होगा जब लोक की कल्याणकारी उन शक्तियों को अनुभूति की तीव्रता के साथ कला की मर्यादा में व्यक्त किया जाय जो मानव-जीवन के विकास में योग देती हैं। कवि को उस घटना विशेष में निहित उस भाव की अनुभूति प्राप्त करनी होगी जिसमे मानव जीवन के उन्नयन में योग दिया है।

काव्य में उन उच्च भावों की व्यंजना भी होती है जो समाज को उन्नतिशील बनाने में सहायक होते हैं। अर्थात् विशिष्ट भावों की व्यंजना करने का साधन भी काव्य है। तो क्या काव्य के द्वारा विशेष साम्प्रदायिक मतों के आचार विचार का प्रचार भी करना ठीक है। इस प्रश्न पर विचार करने के पहले कविता के स्वरूप और उसके लक्ष्य का एक बार पुनः स्मरण कर लेना ठीक होगा। काव्य ऐसी भावात्मक निर्मिति है जिसमें मानव अनुभूतियों के सहारे ऐसे अक्षय सौंदर्य का उद्घाटन होता है जिसका आनंद देश और काल की सीमाओं को पार कर भी प्राप्त किया

काव्य और प्रचार

जा सकता है। इसके द्वारा हमारे मनोभाव तीव्र और उदात्त बनते हैं तथा हमारे हृदय का विस्तार होता है। काव्य के द्वारा भाव परिष्कृत होते हैं अर्थात् हमारी व्यक्तिगत, स्वार्थपर और संकुचित मनोवृत्तियों का संस्कार होता है। पहले से जिन वस्तुओं और सुख साधनों को हम व्यक्तिगत हानिलाभ की भावना से देखते आ रहे थे, उन्हें लोक की दृष्टि से देखने लगते हैं। जिनसे हमारा कोई व्यक्तिगत संबंध नहीं उनके हानिलाभ, सुख दुःख और हर्ष-विषाद में हमारा हृदय भी सम्मिलित होकर तद्रूप सुख-दुःख की अनुभूति प्राप्त करता है। इस प्रकार काव्य प्रचार से भी अधिक अपने सदुद्देश्य की पूर्ति करता है, फिर भी वह प्रचार नहीं करता!

काव्य के उद्देश्य और प्रचार के स्वरूप में ही अंतर है। काव्य लोक-मंगल की भावनाओं का अनुभव कराता है और 'प्रचार' अपने मत विशेष का विज्ञापन कर अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा करता है। काव्य जिन भावनाओं का अनुभव करता है वे सर्वकालिक लोक-मंगल के नित्य आदर्श हैं और 'प्रचार' सामयिक और संकुचित मनोवृत्तिमूलक। काव्य को केवल प्रचार का साधन नहीं समझा जा सकता। तुलसीदासजी ने जिस भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति अपने महाकाव्य में की है वह इसलिए केवल प्रचार नहीं है कि उसमें सर्वकालीन लोक मंगल की प्रेरणा वर्तमान है और उससे भी महत्त्व-पूर्ण दूसरी बात यह है कि अपनी इस भक्तिभावना के मंगलकारी स्वरूप का उन्होंने पूरा पूरा अनुभव किया है और उसे भाव की उस उच्चभूमि पर ले जा कर प्रकाशित किया है जहाँ उसने (भक्ति-भावना ने) उस अक्षय सौंदर्य और मंगल की मूर्ति ग्रहण कर ली है जिसका प्रत्यक्षीकरण और अनुभव प्रत्येक सहृदय पाठक करता है। तुलसीदास की वे पंक्तियाँ जिनमें सामान्य रूप से उपदेशों को पद्यबद्ध किया गया है, अपने आपमें सत्काव्य नहीं समझी जातीं। इसके अतिरिक्त

प्रबंध के बीच बीच में ऐसी पंक्तियों का आना कुछ बहुत नहीं खट कता पर यदि ऐसी प्रचारात्मक पंक्तियाँ स्वतंत्र रूप से सामने आएँ तो उनकी गणना उसी कोटि में होगी जिस कोटि में वृन्द के दोहे हैं। जैसा कहा जा चुका है, सभी महान् कृतियों में कवि का कोई न कोई संदेश निहित रहता ही है पर व्यक्तिगत राग द्वेष की भावना से परे वह मानव अनुभूतियों के ऐसे रमणीय आवरण से सज्जित रहता है जो पाठक के मन में अपने अनुरूप संवेदनशीलता भी उत्पन्न करने की पूरी क्षमता रखता है। इसलिए राजनीति के क्षणभंगुर वाद-विवादों के प्रचार का साधन काव्य नहीं बन सकता। और यदि ऐसा उपक्रम किया भी जाता है तो इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप वह रचना काव्य न होकर पद्यमात्र रह जाती है, जो काव्य का कंकाल है—रक्त मांस और प्राण से विहीन!

काव्य और प्रयोजन

आचार्य मम्मट ने यदि काव्य-रचना का प्रयोजन यश, अर्थ, व्यवहारकुशलता, अनिष्ट से रक्षा तथा तत्काल आनंद की प्राप्ति* और उपदेश कहा है तो साथ ही 'कांतासंमिततयोपदेशयुजे' भी कहा है। 'कांतासंमित' प्यारी स्त्री के समान गूढ़ संकेत करने से तात्पर्य यह है कि काव्य का संकेत परोक्ष रूप से होता है और उसका प्रभाव बहुत गहरा पड़ता है। अर्थात् काव्य की विशेषता अभिव्यंजना की गरिमा और भाव-प्रवणता की महिमा है। ऐसी भाव प्रवणता जो काव्य में वर्णित भावों की सच्ची और तत्काल अनुभूति भी पाठक के हृदय में संचरित कर सके। और यह भी नहीं है कि इन प्रयोजनों की पूर्ति के हेतु जो भी चाहे काव्य का प्रणयन कर ले। उपर्युक्त प्रयोजनों का वर्णन करने के उपरांत ही उन्होंने काव्यकर्ता की विशेषताएँ भी बतलाई हैं। उनमें एक तो काव्य-रचना की नैसर्गिक

---

* **काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।**
सद्यःपरनिर्वृत्तये कांतासंमिततयोपदेशयुजे॥

शक्ति या प्रतिभा होनी चाहिए दूसरे लोक-शास्त्र की ज्ञानोपलब्धि और फिर शिक्षा तथा अभ्यास भी होना चाहिए—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

प्रयोजनयुक्त साहित्य उच्चकोटि का हो सकता है, पर रचना में निहित यह 'प्रयोजन' जब प्रच्छन्न न रहकर काव्य को ही आच्छन्न कर लेता है, मार्मिक भावों की उद्भावना नहीं कर पाता, शब्दशक्ति के योग से शैली में आकर्षण नहीं ला पाता, और सृष्टि के भीतर प्रतिष्ठित रागात्मिकावृत्ति का उचित संबंध-निर्वाह नहीं कर पाता तब वह किसी साम्प्रदायिक सिद्धांत या विचार की पुष्टि के लिए प्रयत्नप्रसूत कतिपय उपकरणों या 'नारों' का संकलनमात्र हो जाता है। इसे ही प्रचार कहते हैं और यह काव्य नहीं है।

भावभूमि और कर्मभूमि

जब कि काव्य हमें निर्विशेष आनंद का अनुभव कराते हुए विश्वात्मा के मंगल की साधना में योग देता हैं, हमारी अनुभूति का प्रसार लोक की सामान्य भाव-भूमि पर करता है, तब यह निश्चय है कि सामाजिक जीवन की प्रकृत समानावस्था भी उसकी सृष्टि में स्थापित होती है। वहाँ सबके लिए स्थान है, देशकाल की अवस्था का बिना विचार किए। काव्य के भावलोक में ही हम दूसरे की पीड़ा का अनुभव करते हैं, दूसरे के सुख दुःख की अनुभूति करते हैं और दूसरे के हर्ष आनंद में हृदय से योग देते हैं। हमारी व्यक्तिगत सत्ता का लोक सत्ता में लय हो जाता है। यह हृदय का साम्यवाद है जहाँ एक दूसरे के सुख दुःख का ज्ञान और सामाजिक क्लेश की चिकित्सा का उपक्रम नहीं वरन् उनका अनुभव किया जाता है। क्लेश की चिकित्सा के बाह्य उपक्रम कर्म-भूमि में ही संभव हैं। काव्य

भाव भूमि पर प्रतिष्ठित है, वहाँ शेष-सृष्टि के सुख दुःख का अनुभव ही प्रधान ध्येय माना जाता है।

साधारणीकरण और सामूहिक-भाव

दूसरे के सुख दुःख का अनुभव हम करते कैसे हैं? पुराने आचार्यों ने 'इस अनुभूति प्रसार करने वाली क्रिया को 'साधारणीकरण' का नाम दिया है। काव्य में जब चित्र और भाव की व्यंजना लोक-स्वीकृत मान्यताओं के अनुकूल होती है तभी साधारणीकरण संभव होता है। बिना इसके सत्काव्य का उद्देश्य ही पूर्ण नहीं होता। यदि काव्य के चित्र ऐसे असामान्य हों जिनकी कल्पना पाठक नहीं कर सकता अथवा उसमें व्यंजित भाव हृदय में उठने वाले सामान्य भावों के मेल में न हों तो उनका प्रत्यक्षीकरण और अनुभव लोक नहीं कर सकता। ऐसा काव्य लोक का नहीं, लोक उसका नहीं। वह या तो आगे चलकर दुरूह आध्यात्मिक अनुभवों का संकलन या व्यक्तिवादी ऐकांतिकता के नीरव संदेश के रूप में परिणत हो जाता है, जिसका आस्वाद उसके कर्ता या उसके मतानुयायी एक परिमित समुदाय के व्यक्ति ही कर सकते हैं। इसीलिए काव्य की प्रेषणीयता की संभावना तभी होती है जब उसके भाव लोक-सामान्य अनुभूतियों के मेल में हों। काव्य का कर्ता व्यक्ति चाहे जिस समुदाय, सामाजिक स्थिति और विचारों का हो पर उसकी रचना में व्यंजित मनोभाव मूलतः सामान्य ही होते हैं सभी सहृदयों के अनुभव करने योग्य होते हैं, सबको तल्लीन कर लेने में समर्थ होते हैं और सभी को आनंद देते हैं। इस दृष्टि से, यह कहना कि कवि अपने समुदाय-विशेष की मनोवृत्ति से परिचालित होकर अपने उन मनोभावों की व्यंजना काव्य में करता है जो उसके वर्ग के अनुकूल होते हैं, कोई महत्त्व नहीं रखता। हम बराबर देखते आ रहे हैं कि काव्य का कर्ता चाहे जिस श्रेणी और स्थिति का व्यक्ति हो पर उसकी

रचनाओं का आनंद सभी समुदाय और श्रेणी के लोग लेते हैं। अब तक काव्य उच्च वर्ग के लोगों के बीच ही निर्मित होता रहा है, अतएव उसमें उसी वर्ग का स्वार्थ निहित है, वह एक घेरे में बँधकर कर्मभूमि से विलग होकर विलास और आनंद का साधनमात्र हो गया है—ऐसा कहते भी कुछ लोग मिल जाते हैं। यह ठीक है कि 'रस' का हमारे यहाँ दुरुपयोग भी हुआ है, कुछ काल तक काव्य राजदरबारों में संकुचित होकर आनंद और विलास की सामग्री भी बन गया था, पर अब तक के संपूर्ण काव्य साहित्य में श्रेणी विशेष की संकुचित मनोवृत्ति और अन्य वर्गों की उपेक्षा बतलाते फिरना घोर अज्ञान का परिचायक है।

हाँ यह अवश्य है कि जिस समाज में मनुष्य रहता है, उसका प्रभाव उसपर पड़ता है। उसके राजनीतिक विचार और संस्कारों के अनुकूल ही उसकी कृति पर भी कुछ बाहरी औपचारिक स्थूल प्रभाव पड़ते हैं पर उसकी कृति में व्यंजित मनोभावों में स्वार्थ की न तो कोई भावना ही रहती है और न उसके स्वरूप में ही किसी इस प्रकार की भावना से निर्दिष्ट कोई तात्त्विक अंतर पड़ता है। मार्क्सवादी आलोचक काडवेल जिसे 'सामूहिक भाव' (कलेक्टिव-इमोशन) कहता है उसे साधारणीकरण-गुण सम्पन्न काव्य की सामान्य मनोभावना से भिन्न समझना चाहिए। 'सामूहिक भाव' का आशय यह है कि कवि (जिस वर्ग का वह अंग होता है) समुदाय-विशेष की मनोवृत्ति से परिचालित होकर अपने उन मनोभावों की व्यंजना करता है जो उसके समूह (वर्ग) के 'हितों' के अनुकूल होते हैं; और ये व्यंजित भाव उसके अंगी समुदाय के सामूहिक भाव होते हैं। तात्पर्य यह कि 'साधारणीकरण' में कवि कर्म होता है हृदय की शाश्वत मनोवृत्ति का जागरण या उद्दीपन और सामूहिक भाव में कवि कर्म होता है समूह या समुदाय की देशकालविशिष्ट भावनाओं

का उद्‌बोधन। किसी युग का कोई एक 'सामूहिकभाव' काडवेल स्वीकार नहीं करता, उसके मतानुसार युग विशेष में भी अनेक वर्गों के अनेक 'सामूहिकभाव' होने चाहिए। ऐसी स्थिति में एक सामान्य भावना जो किसी प्रकार के 'स्वार्थ' से ऊपर उठी हुई हो और सबके मन को स्पर्श करनेवाली हो, उसे मान्य नहीं है। 'साधारणीकरण' का सिद्धांत ऐसे कृत्रिम विभाजन स्वीकार नहीं करता। वह साहित्य का नित्य स्वरूप लेकर चलता है और 'सामूहिकभाव' उसका विकारी स्वरूप। दूसरी बात यह कि पहले में हृदय ही प्रधान है; वही उसका लक्ष्य और वही उसका प्रवर्तक है। किंतु दूसरे में हृदय लक्ष्य तो हो सकता है, पर प्रवर्तक हृदय नहीं 'स्वार्थ-प्रेरित' बुद्धि है। अतः दोनों का तात्विक अंतर स्पष्ट है। 'सामूहिकभाव' में 'अधिक' का समाहार हो जाय पर 'सब' की समाई नहीं हो पाती। उसमें 'अर्थ' के संग्रहण का प्रयास भले ही हो, पर 'रस' से संपृक्त करने का विनियोग नहीं होता।

पर क्या कवि की भावनाएँ सचमुच इस संकुचित मनोवृत्ति की परिचायिका होती हैं। अब तक के काव्य इस बात के प्रमाण हैं कि

काव्य और वर्गभावना

ऐसा कुछ भी नहीं है। शुद्ध काव्य में व्यंजित मनोभावनाएँ यदि किसी वर्ग विशेष की विशिष्ट अनुभूतियों की ही व्यंजना करती तो सभी पाठक उसका आनन्द कैसे ले सकते? जब कवि की रचना में व्यंजित भावना निर्विशेषत्व का अनुभव कराकर पाठक को अपने में मग्न कर लेने की क्षमता रखती है, तब यहाँ वर्ग विशेष की स्वार्थ-परक मनोवृत्तियों की चर्चा से क्या लाभ।

जो नए लेखक यह कहते हैं कि कालिदास सामंतकालीन वैभव के प्रतीक हैं और इसलिए उनकी कविताएँ सामान्य अनुभूतियों के मेल में नहीं आतीं वे भ्रम में पड़े हैं। इतना कहा जा सकता है कि अपने समाज और उसकी भावनाओं का पूरा प्रतिबिंब उनकी रचनाओं

में है। आज न वैसी सुख-समृद्धि का काल है और न वैसी व्यवस्थाएँ। हमारा वर्तमान समाज दैन्य-दुःख से ग्रस्त है। ऐसी दशा में केवल शृंगार और आनंद की उन भावनाओं से ही प्रेरित होकर काव्य रचनाएँ करना न तो लोक के हित में ही ठीक है और न वर्तमानकालीन लोकहृदय के सामान्य भावों के साथ वे पूरा मेल ही खा सकती हैं। पर कालिदास ने जो कुछ किया उसके लिए उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता और न तो उपर्युक्त धारणाओं से उनका महत्व ही कम होता है। 'शकुन्तला' की रचना का काल तो विदेशियों के आक्रमण का काल है। पर इस अमर कृति की रचना करके क्या महाकवि ने कोई अनुचित कार्य किया? बात यह है कि कोई विशिष्ट कवि जहाँ अपने युग का होता है वहाँ युग-युग का भी होता है। उसकी अंतर्दृष्टि जहाँ वर्तमान को लक्ष्य में रखती है वहां वह समय की दूरी पार करके अतीत तक भी पहुँचती है और भविष्य के अंतःलोक में भी उसका प्रवेश होता है। यही कारण है कि किसी विशेष युग में लिखी गई साहित्य-रचना मानव मन को न जाने कितने दिनों तक प्रभावित करती रहती है।

इतना हम मान सकते हैं कि वर्तमान समय में समाज की विशृंखलता और जटिलता बहुत बढ़ गई है और शोषण का चक्र तीव्र गति से चल रहा है, अतएव प्रत्येक लेखक और कवि को यह निश्चय कर लेना चाहिए कि मेरी कृति लोक पीड़कों की शोषण-क्रिया में योग न देकर लोक की मंगलकामना की ओर सबका ध्यान बनाए रखे। पर इससे भी अधिक यह भलीभाँति समझ लेना चहिए कि काव्य न तो मोर्चा है न जंग; न हँसिया है न हथौड़ा। न इसमें (वर्ग-विद्वेष-जन्य) द्वेष और घृणा का 'प्रचार' होता है और न नारों का संकलन। काव्य भावभूमि है, कर्मभूमि नहीं। इसकी एक अलग अपनी स्वतंत्र मर्यादित सत्ता है। इसलिए वर्ग संघर्ष को चरम उत्कर्ष तक पहुँचाने में इसे एक साधन मात्र मान लेना नितांत अनु-

चित है। इस विषय में कवि श्री सुमित्रानंदन पंत के वाक्य द्रष्टव्य हैं "भारतीय दर्शन की, सामंतकालीन परिस्थतियों के कारण, जो एकांत परिणति व्यक्ति की प्राकृतिक मुक्ति में हुई है (दृश्य जगत् एवं ऐहिक जीवन के माया होने के कारण उसके प्रति विराग आदि की भावना जिसके उपसंहारमात्र हैं), और मार्क्स के दर्शन की, पूँजीवादी परिस्थितियों के कारण, जो वर्ग-युद्ध और रक्तक्रांति में परिणति हुई है—ये दोनों परिणाम मुझे सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं जान पड़े।" ['आधुनिक कवि' की भूमिका से]

भाव क्षेत्र वर्ग-युद्ध की द्वन्द्वभूमि नहीं बन सकता। यहाँ समानता, एकत्व और प्रेम का हार्दिक संबंध ही स्थापित करने का उपक्रम किया जा सकता है। यह सब हृदय के परिष्कार और प्रसार से ही संभव है। इसके लिए करुणा, उत्साह और प्रेम आदि भावों को विशेष रूप से जाग्रत करने की आवश्यकता होगी। काव्य के क्षेत्र में वर्ग-संघर्ष की पारस्परिक उत्तेजना और द्वेष का प्रसार करने से भाव की पवित्र भूमि कलुषित होगी, हृदय का परिष्कार न होगी और न तो लोकमंगल की भावना से युक्त अनुभूतियों के अनुभव और शेष सृष्टि के साथ हार्दिक तादात्म्य की प्रक्रिया ही पूर्ण होगी। 'करुणा' और 'दया' के भाव का इसलिए बहिष्कार करने की आवश्यकता नहीं है कि इससे क्रांति घटित होने में विलंब लगेगा। (देखिए प्रथम अध्याय में मार्क्सवाद का सिद्धांत)। करुणा एक ऐसा भाव है जिसका प्रसार बहुत व्यापक है और जो लोकमंगल की साधना में अत्यधिक योग देता है। इसी करुणा की प्रतीति से बुद्ध ने अपने समस्त आनंद वैभव को तिलांजलि दे दी। संसार के लिए करुणा से व्यथित होने में क्या उनका कोई व्यक्तिगत लाभ था? इसी करुणा और प्रेम की महत् भावना से भावित होने के कारण मार्क्स की प्रशंसा होती है। ऐसा तो नहीं हुआ है कि उसके सिद्धांतों

के अनुसार सभी चल रहे हों पर उसकी महत्ता सभी स्वीकार करते हैं, केवल इसलिए कि करुणा और प्रेम के आदर्श से प्रेरित होकर ही संसार के दुःख-दैन्य के निवारणार्थ वह अपने जीवन भर सिद्धांतों की खोज में व्यस्त रहा। इसलिए यह स्पष्ट है कि प्रेम और भ्रातृ-भावना ही वह आदर्श हो सकता है जिसके द्वारा समस्त मानव-समाज एक दूसरे से पूरी सहानुभूति रख सके और अपने पारस्परिक संबंधों को दृढ़ बना सके। काव्य या साहित्य द्वेष का प्रचारक नहीं वरन् प्रेम-संबंध स्थापित और सुदृढ़ करने की वस्तु है। प्रेम और करुणा के इन बीजों को अंकुरित, पुष्पित और फलित करने के लिए सुखा-त्मम वृत्तियों तक रह जाने की आवश्यकता नहीं, दुःखात्मक वृत्तियों का समावेश भी बेखटके किया जा सकता है। घृणा, क्रोध; क्षोभ आदि का सम्यक् विधान हो सकता है, पर स्मरण रहे कि इनका मूल आधार प्रेम और करुणा ही हो, किसी मत का प्रचार या वर्ग-संघर्ष की भावना नहीं।

आज तक का सारा काव्य धनिकों और पूँजीपतियों के समाज की वस्तु है। अतः ऐसा वर्गवादी साहित्य-सर्जन होना चाहिए जो श्रमिकों के हित की भावना से पूर्ण हो—यह कहना अपने समस्त पूर्ववर्ती साहित्य-भांडार को तुच्छ कर देना हैं। यदि श्रमिकों, किसानों और दलितों के जीवन से संबद्ध रचनाएँ कुछ लोगों को पसंद नहीं आतीं तो यह किसी समाज-संस्कृति का दोष नहीं वरन् संकुचित मनोवृत्ति वाले कतिपय व्यक्तियों का ही दोष है। कवि की अभिव्यंजना शक्ति का भी इसमें कम दोष नहीं जिसने रचना को उस तीव्र अनुभूति के माध्यम से उपस्थित नहीं किया जो सभी पाठकों को अपनी व्यक्ति-गत संकुचित मनोवृत्ति से हटाकर अपने में तल्लीन कर सकने की क्षमता रखती। काव्य-क्षेत्र न तो केवल श्रमिकों का है, न केवल धनिकों का। वह तो सारे लोक के लिए है। सभी उससे आनंद उठा

सकते हैं, सभी उससे शुभ प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं, सभी उससे उच्च अनुभूतियाँ प्राप्त कर सकते हैं। काव्य के संसार में कोई आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक वर्गीकरण नहीं है। वह तो भावों का साम्राज्य है जहाँ कोई भी हृदय आनंदपूर्वक विचरण कर सकता है। वहाँ तो हृदय हृदय का शाश्वत साम्यवाद है, उसके भीतर राजनीतिक 'साम्यवाद' के हेतु वर्ग-विद्वेष की भावना कैसी और विभिन्न वर्गों का विभाजन कैसा? काव्य में सामान्य हृदय को स्पंदित करने की क्षमता अवश्य चाहिए। हृदय के अनेक अनुकूल और प्रतिकूलवेदनीय भावों के स्फुरण और संचार के बिना न तो काव्य की सच्ची व्याप्ति ही मानी जा सकती है और न काव्य लोकहृदय पर मार्मिक प्रभाव डाल कर एक दूसरे के प्रति संवेदन उत्पन्न कर समाज का कल्याण ही कर सकता है। काव्य को किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति का अस्त्र मानना उचित नहीं। काव्य में कोई उद्देश्य रहता है, इसका तात्पर्य यह नहीं कि उससे भी वही काम लिया जा सकता है जो एक शस्त्र या सैनिक से। काव्य तो अपने भावों को पाठक के हृदय में ढालकर परोक्षरूप से अपना उद्देश्य पूर्ण करता है। और यह निश्चय है कि शुद्ध हृदय की प्रकृति समाज के बीच इस प्रकार के दो स्थूल विभाजन स्वीकार नहीं कर सकती। काव्य में तो सभी कठोर हृदय वाले व्यक्तियों, अत्याचारियों और दुराचारियों का विरोध है—पाठकों की ऐसी कठोर मनोवृत्तियों पर आघात करके काव्य उनका अनजाने रूप में परिष्कार करता है जिसकी स्थिति का पता किसी नियम के बाहरी स्थूल पैमाने कभी नहीं पा सकते। जिस प्रकार काव्य का प्रेरणाकेन्द्र लोकजीवन है उसी प्रकार उसका प्रकृत प्रभाव क्षेत्र भी लोकहृदय ही है। समाज के सारे संप्रदाय काव्य या साहित्य की ही सामान्य भाव भूमि पर मिल सकते हैं। केवल रोष और द्वेष का प्रकाशन करने वाली रचनाओं में एक प्रकार का उन्माद होने

के कारण थोड़ा आकर्षण भले ही प्रतीत होता हो, पर पाठक को तल्लीन कर लेने की क्षमता उनमें नहीं हो सकती, जो काव्य का नैसर्गिक गुण है।

काव्य की व्यावहारिक उपयोगिता की चर्चा के साथ मार्क्सवादी आलोचना की एक विशिष्ट प्रणाली भी हिन्दी में प्रयुक्त होने लगी है जो प्रगतिवादी काव्यधारा के साथ ही चल रही है।

मार्क्सवादी आलोचना-प्रणाली

अतः इसपर भी थोड़ा विचार कर लेना समीचीन होगा। मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकार करती और उसे समाज के विकास में एक अस्त्र के रूप में ग्रहण करती है। इस प्रकार के आलोचक प्रस्तुत काव्य का रचना-स्वरूप उसके निर्माणकालीन आर्थिक और सामाजिक अवस्था के अनुरूप सिद्ध करते हैं। ऐसी आलोचना के क्रमिक आधार ये हैं—

१—जिस युग में आलोच्य काव्य निर्मित हुआ उस युग की आर्थिक प्रणाली का विश्लेषण।

१—इस आर्थिक आधार पर सामाजिक दशा का विवेचन।

३—उपर्युक्त दो स्थितियों के अनुसार सामाजिक मनोविज्ञान तथा मानसिक और बौद्धिक अवस्था का निर्धारण।

इस सामाजिक मनोविज्ञान के अनुरूप ही उस युग की काव्य-निर्मिति होगी। यह तो हुई रचना को संभव बनाने वाली शक्तियों की बात। अब मार्क्सवादी आलोचना के अनुसार श्रेष्ठ काव्य क्या हो सकता है, इसे देखना चाहिए।

इसके अनुसार, जो काव्य समाज की तात्त्विक उन्नति करने वाली शक्तियों के विकास में योग दे वही उच्चकोटि की कृति है। अपने समय की (मार्क्सवादी दृष्टि से) प्रगतिशील विचारधारा के उन्नयन में सहायक होकर कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा देनेवाला काव्य ही समाज

के विकास में योग दे सकता है, अतएव ऐसे आलोचक की दृष्टि से वही उच्चकोटि की महत्त्वपूर्ण कृति है। बिना मार्क्सवादी विचारधारा अपनाए साहित्यकार को उस 'सत्य' की प्राप्ति नहीं हो सकती जो उसके लिए अत्यावश्यक है।*

इस आलोचना-प्रणाली के आविर्भाव के पहले यूरोप में मनोवैज्ञानिक आलोचना का विशेष प्रचलन था। कवि की अंतर्वृत्तियों का इसके द्वारा सूक्ष्म उद्घाटन हुआ, जिससे काव्य के सौंदर्य का स्वरूप-उद्घाटन करने में सहायता अवश्य मिली। पर जहाँ ये आलोचक मनोविज्ञान के सूत्रों के सहारे कवि की मानसिक प्रक्रिया के विश्लेषण में ही इतना अधिक उलझ जाते थे कि काव्य का वास्तविक विवेचन छूट ही जाता, वहाँ उसकी (काव्य की) साहित्यिक व्याख्या न होकर कवि की मनोदशाओं का उद्घाटन और काव्य-प्रतीकों का विश्लेषण मात्र ही प्रस्तुत हो पाता था। काव्य के संश्लिष्ट सौंदर्य का विवेचन, जो कि सत्समालोचना का असली उद्देश्य है, पड़ा ही रह जाता था। वास्तव में मनोवैज्ञानिक और आलोचक के कार्य अलग-अलग हैं।‡ शुद्ध मनोवैज्ञानिक आलोचना में साहित्य का सामाजिक

---

* Without Marxism there is no approach to that essential truth which is the chief concern of the writer—*Novel and the People;* by Ralph Fox.

‡ The Psychology only analyses the product to arrive at the process : art is, from this point of view, as significant as any other expression of morality. But of no more significance . its significance does not correspond to its value as literature. The Psychologist is indifferent to literary values (too often, alas, even in his own work) + + + analysis involves the reduction of the symbol to its origin, and once the symbol is in this way dissolved, it is of no aesthetic significance : art is art as symbol, not as sign.

—*'Reason and Romanticism';* by Herbert Read, Page 85—86.

पक्ष भी छूट जाता था।

इसके विरोध में अब मार्क्सवादी आलोचना की प्रणाली प्रारम्भ हुई। इसके पहले के मनोवैज्ञानिक आलोचकों ने समाज का ध्यान न रखकर निरपेक्ष दृष्टि से काव्य का मूल्यांकन किया था, ये लोग समाज-सापेक्ष दृष्टि से उसकी आलोचना करते हैं। एक ओर तो सिद्धांतवादी मनोवैज्ञानिक आलोचक कवि की मानसिक प्रक्रिया के विश्लेषण में उलझ कर काव्य के संश्लिष्ट सौंदर्य के उद्‌घाटन पर पूरी दृष्टि न रख सके और दूसरी ओर मार्क्सवादी आलोचक आर्थिक परिस्थितियों और राजनीतिक वातावरण के विवेचन में ही इतना रम जाते हैं कि कविता बेचारी अलग दुबकी रह जाती है। उसकी अपनी भी कोई सत्ता है, उसका अपना भी कोई स्वतन्त्र स्वरूप है, जिसका विवेचन आलोचक का मुख्य लक्ष्य है, यह मार्क्सवादी आलोचक भूल ही जाते हैं।

मार्क्सवादी आलोचना की दो मुख्य प्रवृत्तियाँ निर्दिष्ट की जा सकती हैं—

१—पूर्ण बौद्धिक दृष्टि।

२—सामाजिक विकास के अस्त्र के रूप में साहित्य का ग्रहण। ❀

❀ "हमको एक योजना के अनुसार इस प्रक्रिया (कला) को दिशा देनी होगी, और उसके परिणाम गढ़ने होंगे। पूँजीवादी देशों के कलाकारों के लिए, लूर्सा के इन शब्दों में परिस्थिति को व्यक्त किया जा सकता है—कला स्वान्तःसुखाय नहीं है, वह आक्रमण करने का एक तरीका है।"

—ऐन्थनी ब्लंट (हिंदी अनुवाद—'हंस' प्रगति अंक, भाग १)

× × × ×

Literature and art, "Spiritual production", according to the expression of Marx, has always been regarded

बात यह है कि मार्क्सवादी आलोचना शुद्ध साहित्य की दृष्टि से होती ही नहीं। जब काव्य समाज के विकास के अस्त्र के रूप में ग्रहण कर लिया गया, तब यह निश्चित है कि आलोचक की दृष्टि सबसे अधिक समाज पर ही रहे। काव्य की अपनी विशेषताओं का विस्तृत विवेचन अभी इस प्रणाली के भीतर देखने को नहीं मिला। मार्क्सवादी आलोचक काडवेल लिखता है—"कोई व्यक्ति कला के 'रचनाकार्य' या आनंद प्राप्ति से आगे बढ़कर जब कला की आलोचना करने चलता है, तब यह स्पष्ट है कि वह कला से अलग जा खड़ा होता है। कला का निरीक्षण वह 'बाहर' से करता है। और कला से बाहर या अलग स्थित होने का तात्पर्य है समाज के बीच आ जाना। कला की 'आलोचना' शुद्ध आनन्द-प्राप्ति या रचना कार्य से इस बात में भिन्न है कि इसमें समाजशास्त्र का अंश विद्यमान रहता है। आलोचना में कला की विशेषताएँ समाज की कला सम्बन्धी सामान्य दृष्टि से परखी जाती हैं। **आलोचना कला-विषयक शुष्क विचारधारा मात्र नहीं वरन् वह कला से सजीव कर्मशीलता का संबन्ध जोड़ने वाली व्यावहारिक दृष्टि है। आलोचना कला को एक तड़पती हुई शक्तिशाली कामकाजी वस्तु के रूप में ग्रहण करती है।** यह समाजशास्त्र या बुद्धि-विज्ञान की नहीं वरन् कला की वास्तविक दृष्टि है।" (इल्यूजन ऐण्ड रियलिटी)

किसी युग के काव्य का विवेचन करते हुए सामाजिक परिस्थितियों

---

by Lenin and the Party as a powerful weapon in the class struggle............In Lenin's view it (art) is the most powerful weapon in the political education of the masses.

—*Lenin on Art and Literature,* (Appendix B); Page 80.

का थोड़ा वर्णन भी आवश्यक है पर 'प्रगतिशील' भावों की खोज और उनके स्वरूपोद्‌घाटन, आर्थिक परिस्थियों के विवेचन और उनके प्रभाव आदि की व्याख्या में ही इतना व्यस्त हो जाना कि काव्य की अपनी विशेषताओं का सम्यक् उद्‌घाटन ही न हो सके, सत्समालोचना का लक्षण नहीं। आलोचना इसलिए पढ़ी जाती है कि काव्य का सौन्दर्य अधिकाधिक प्रस्फुटित रूप में हमारे सामने आए, कुछ इसलिए नहीं कि उसके निर्माण काल की आर्थिक अवस्था और सामाजिक स्थिति से हम भलीभाँति परिचित हों अथवा उसमें निहित केवल 'प्रगतिमूलक' भावों का हमें आभास मिल जाय। बात यह है कि यह आलोचना-प्रणाली अपने पूर्व प्रचलित एकदम समाज-निरपेक्ष आलोचना-पद्धतियों के विरोध में मार्क्सवाद का सहारा लेकर खड़ी हुई है और इसे भी चरम उत्कर्ष पर पहुँचा कर ही छोड़ेगी।

मार्क्सवाद के अनुसार समाज की 'प्रगतिशील शक्तियों' पर सदा दृष्टि बनाये रखने के कारण कविता की आलोचना करते समय उसके साहित्यिक गुणों पर विशेष दृष्टि न रखकर हिन्दी के ऐसे नये आलोचक गांधीवाद और समाजवाद की व्याख्या करने लगते हैं। कविता की आलोचना तो एक किनारे रही, विस्तृत विवेचना हुई गांधीवाद और मार्क्सवाद की। इनकी धारणा के अनुसार मार्क्सवाद ही वर्तमान समाज की उन्नति कर सकता है अतएव काव्य में भी इसी के अनुकूल विचारों का प्रतिपादन होना चाहिए।

विचार करने की बात है कि क्या मार्क्सवाद या किसी वाद की विचारधारा का प्रतिपादन ही काव्य है? उसका अपना कोई विशिष्ट स्वरूप है या नहीं। काव्य के क्या अपने भी कुछ सिद्धांत होते हैं? बाह्य परिस्थितियों के आलोक में काव्य की परीक्षा इसलिए की जाती है कि उसका लोकस्वीकृत स्वरूप पूर्ण स्पष्ट हो जाय, इसके पश्चात् काव्य-सिद्धान्तों तथा कवि की अपनी विशेषताओं के आधार पर उसके

साहित्यिक स्वरूप का सम्यक् उद्घाटन किया जाता है। यदि सामाजिक और आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का ही अधिक विवेचन हुआ और काव्य की साहित्यिक विशेषताओं का पर्याप्त विचार न हुआ तो वह आलोचना काव्य की आलोचना तो नहीं हुई और चाहे जो हो।

काडवेल के समीक्षा सिद्धांत

हिंदी के नवीनतम समीक्षात्मक निबन्धों में मार्क्सवादी आलोचकों, विशेषतः काडवेल के मत का प्रतिपादन विशेष-रूप से दिखाई देता है, अतः उसके काव्य-समीक्षा-सिद्धान्तों का संक्षेप में विचार कर लेना अच्छा होगा।

काडवेल का असली नाम था स्प्रिग (Sprigg)। यह एक अंगरेज लेखक था जो स्पेन के गृह युद्ध (१९३७ ई०) में युद्धक्षेत्र में मारा गया। इसने 'भ्रम और वास्तविकता' (Illusion and Reality) नाम की एक समीक्षा पुस्तक लिखी है जिसमें मार्क्सवादी विचारों के अनुसार काव्य के उद्भव और विकास का विस्तृत विवेचन किया गया है।

काडवेल समाज और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है। उसका कहना है कि समाज संघटन का आधार आर्थिक है अतएव काव्य का भी मूलाधार आर्थिक ही ठहरता है। पहले पहल काव्य का उपयोग समाज के लाभ के लिए होता था। समाज में सुख-शांति और आनन्द का प्रादुर्भाव तथा प्रकृति से संघर्ष कर उस पर मानव समाज की विजय स्थापित करना—ये ही दो कार्य कविता के थे। वर्तमान समय में यह बात नहीं रह गई है। काव्य धनिकों और शोषकों के बीच पलकर समाज से विलग हो गया है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि काव्य पहले की भाँति पुनः समाज के बीच खड़ा हो। समाज का सबसे दुःखी अंग श्रमिक वर्ग है। काव्य को उसके सुखसाधन में योग देना चाहिए। उसमें

कर्म की प्रेरणा जगानी चाहिए। मार्क्सवाद की स्थापना से ही विश्व में वास्तविक सुखशांति का आविर्भाव हो सकता है। इसलिए काव्य को मार्क्सवाद का पल्ला मजबूती से पकड़ कर उसके प्रसार के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

कला उस मोती के दाने के समान है जो समाज रूपी सीपी से उत्पन्न होता है। काव्यकला का जन्म समाज के साथ ही हुआ। प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्यों की सीधी-सादी भाषा तो उनके व्यक्तिगत दैनिक व्यवहारों के काम आती थी और अपेक्षाकृत परिष्कृत भाषा—हाइटेण्ड लैंग्वेज—सामूहिक अवसरों के काम। यह परिष्कृत भाषा लययुक्त होती थी। इसी में सामूहिक अवसरों पर सामूहिक गान आदि होते थे। आदि-युग में इसी लययुक्त परिष्कृत भाषा में काव्य का अस्तित्व था। इस लययुक्त भाषा में प्रचुर संगीत की मात्रा इसलिए होती थी कि यह सामूहिक अवसरों पर गाई जा सके। ऐसी रचनाएँ 'सामूहिक भाव' (जिसका विचार पहले किया जा चुका है) से पूर्ण होती थीं।

'सामूहिक भाव' को जाग्रत करने की आवश्यकता दो अवसरों पर विशेष पड़ती थी। एक तो प्रकृति से संघर्ष के समय—क्योंकि प्रकृति पग-पग पर आदिम मनुष्य की सुखशांति के मार्ग में रोड़े अटकाया करती थी। मनुष्य का जीवन-विकास प्रकृति से निरंतर संघर्ष की ही कहानी है, जिसमें सहायता देना काव्य का कर्त्तव्य है। दूसरा अवसर था कृषि-कार्य संपन्न करने का। फसल बोने, काटने आदि के अवसर पर लोगों को उसके लिए तैयार करने और 'कार्य' में प्रवृत्त करने में कविता सहायता देती थी।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि काव्य तो सामूहिक उत्सव

आदि के अवसर पर गाया जाता था, इससे कौन-सा 'कार्य' संपन्न होता था ? इसके अतिरिक्त, विपत्ति के समय—जैसे चीते को पास आते देखकर, अथवा शत्रु के आक्रमण, वर्षा, भूकम्प आदि के समय—स्वभावतः लोग 'सामूहिक भावों' (Collective Emotions) की अभिव्यक्ति करेंगे। 'सामूहिक भाव' जाग्रत करने के लिए काव्य अथवा किसी अन्य साधन की क्या आवश्यकता ?

काडवेल इसका उत्तर इस प्रकार देता है—साधारण से साधारण मानव-समाज को बहुत से उद्योग-धन्धे करने होते हैं जो सहजवृत्त-प्रेरित (Instinctive) तो नहीं होते पर अप्रत्यक्ष आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक हैं; जैसे, उपज। अब उपज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य की चित्तवृत्तियों को सामाजिक संघटन के द्वारा तैयार करना चाहिए। इस संघटन का ध्यान देने योग्य एक साधन है 'सामूहिक भाव', जिससे काव्य का जन्म हुआ है। इस अवसर पर भाव की तरंगें उठती हैं और सभी व्यक्तियों के भाव समूहबद्ध होकर एकाकार हो जाते हैं। इस समय स्थूल उद्देश्य लोगों के सामने से हट जाता और एक छायात्मक या काल्पनिक उद्देश्य रह जाता है। इस अवसर पर उपस्थित व्यक्ति उल्लास की लहरों और संगीत के राग में डूबकर प्रत्यक्ष वास्तविकता से दूर हट जाते हैं और वे एक ऐसे काल्पनिक 'लोक में पहुँच जाते हैं जहाँ काल्पनिक उपज दिखाई देती है। जब संगीत का मधुर स्वर बंद हो जाता है और उल्लास की लहरें स्थिर हो जाती हैं, तब भी वह काल्पनिक उपज उन व्यक्तियों के लिए सत्य बनी रहती है और वास्तविक उपज के साधन जुटाने के आवश्यक श्रम के लिए उन्हें तैयार करती है।

इस प्रकार नृत्य, गान और उत्सव के आनन्द—इन सबसे आवेष्टित होकर काव्य आदिम जाति की सहजवृत्तिमूलक शक्ति की कुञ्जी वन जाता है। और इस प्रकार काव्य (उन आदिम) मनुष्यों को अनेकानेक सामूहिक कृत्यों में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित करता है, जिनका न तो कोई प्रत्यक्ष फल ही सामने रहता है और न जिन्हें करना सहजवृत्ति साध्य ही है। उपज तैयार करने के लिए, युद्ध में जाने के लिए अथवा अन्य कोई कार्य करने के लिए ऐसे वातावरण की आवश्यकता होती है जो 'सामूहिक भाव' (Collective Emotion) के द्वारा निर्मित होता है। कला के द्वारा प्रस्तुत की गई यह सामूहिक भ्रम (Collective Illusion) की सृष्टि लोगों में सामूहिक भ्रम उत्पन्न कर उन्हें श्रमके लिए तत्पर करती और श्रम को हल्का बनाती है। इस प्रकार 'सामूहिक भाव' की उत्पत्ति श्रम की आवश्यकताओं से हुई है।

उत्पादन प्रणाली की वृद्धि और श्रमविभाजन की परिपाटी बढ़ने के साथ ही आर्थिक आधारों पर मानव-समाज की संस्कृति का विकास हुआ। और तब सामान्य आर्थिक प्रणाली वाले आदिम मानव-समाज में सभी अवसरों पर प्रयुक्त होने वाली कविता अर्थात् "लययुक्त परिष्कृत भाषा" साहित्य का एक विशिष्ट विकसित अंग बन गई। ज्यों ज्यों मानव समाज की उन्नति हुई त्यों त्यों उसके साहित्य का भी उन्नयन हुआ और काव्य को वह स्वरूप प्राप्त हुआ जिसे हम आज देखते है।

जिस प्रकार संस्कृति आर्थिक उत्पादन से अलग नहीं की जा सकती, उसी प्रकार काव्य सामाजिक संघटन से; और समाज का संघटन आर्थिक आधारों पर ही हुआ है इसलिए काव्य का मूल आधार आर्थिक ही है। कतिपय शृंखलाबद्ध सूक्ष्म विचारों

की अभिव्यक्ति काव्य का वास्तविक लक्ष्य नहीं है। उसका वास्तविक लक्ष्य है सामूहिक भावों की व्यंजना द्वारा समाज को गत्वर बनाना।*

अब तक जो कुछ कहा गया उसका सारांश यह कि—

(१) काव्य का मूल आधार आर्थिक है।

(२) काव्य में 'सामूहिक भाव' की व्यंजना होती है। अर्थात् कवि अपनी रचना में अपने वर्ग या समाज के 'स्वार्थों' से परिचालित होकर तदनुरूप भावों की व्यंजना करता है।

(३) काव्य समाज के विकास में योग देने वाला एक अस्त्र है। वह 'श्रम' के लिए मनुष्य को प्रेरित भी करता है और 'श्रम' को हल्का भी बनाता है।

मनुष्य के क्रियाकलाप सहजवृत्ति की प्रेरणा पर आधारित हैं। पर मनुष्य के जो कार्य अत्यधिक परिवर्तनशील और कम से कम सहजवृत्ति प्रेरित होते हैं वे ही उच्चतम और पूर्ण मानवोचित हैं। ये कार्यकलाप, जो कि परंपरागत विकास के अनुरूप होते हैं और पूर्णतः भौतिक होते हैं, प्रत्येक युग को किसी न किसी नई दिशा की ओर मोड़ते हैं। पर ऐसा करने में आदिम मनोवृत्तियों और बाहरी परिस्थितियों के बीच द्वन्द्व होता है, विरोध खड़ा होता है। मनुष्य की इस प्रकार की आदिम मनोवृत्तियों और समूहबद्ध सभ्य मानव के मनोभावों के बीच का विरोध ही काव्य रचना को संभव बनाता है। काव्य मनुष्य की उत्पादक या आर्थिक कार्यप्रणाली है। इस मूल आधार से काव्य को हटा देने पर

---

* Its dynamic role in society—its content of collective emotion, is therefore poetry's truth.

—*Illusion and Reality*.

उसका वास्तविक विकास समझना असंभव हो जाता है।*

कला और विज्ञान सामाजिक वस्तुएं हैं और उनका एकमात्र लक्ष्य है स्वतंत्रता—वह स्वतंत्रता जिसे मनुष्य प्रकृति से संघर्ष करके प्राप्त करता है। वह स्वतंत्रता न तो केवल विचारों की स्वतंत्रता है और न तो केवल सोचते ही रहने से प्राप्त होती है। वह प्राप्त होती है कर्म करने से। अतः कला और विज्ञान कर्म के प्रेरक और उसका ठीक ढंग से संचालन करनेवाली वस्तुएँ हैं।

काव्य की कला का क्षेत्र भावजगत् है जिसका संबंध अनुभूतियों से होता है। कला मनुष्य की सामाजिक चेतना को उद्बुद्ध कर उसे समाज के अनुकूल बनाती है। काव्य अंतर्वृत्तियों और हृदय को ऐसे मार्ग से संचालित करता है जहाँ विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों को अपनाते हुए ये चले चलते हैं और साथ ही मनुष्य के चैतन्य भाव-जगत् को वह इस ढंग से परिवर्तित भी करता चलता है जिससे वह लोक के अधिकाधिक अनुकूल होता चले। आंतरिक वास्तविकता की यह पकड़ मनुष्य की सामूहिक चेतना के ही कारण संभव होती है और स्वयं, समाज के अन्य प्राणियों को एक नवीन सामूहिक चेतना की भूमि पर ले जाती है। कला मनुष्य के बीच सौहार्द, सजग समानुभूति (Concious sympathy) और प्रेममय संबंध के नवीन आधार प्रस्तुत करती है, जो अधिक उत्पादन के अनुकूल बने हुए भौतिक संघटनों (Material organisations) से भरपूर मेल खाने वाले होते हैं।

---

* Poetry is a productive or economic activity of man. To separate it from this foundation makes its development impossible to understand.

—*Illusion and Reality.*

काव्य भावात्मक तो होता है पर केवल भावात्मकता किस काम की? उसमें सौंदर्य और सत्य की अभिव्यक्ति होती है। काडवेल कहता है कि उस सौंदर्य और सत्य के सच्चे स्वरूप का निर्णय सामाजिक चेतना से संपन्न मनुष्य ही करता है। कर्मशील मनुष्यों के पारस्परिक संबधों में निहित रागात्मक सत्ता ही सौंदर्य-भावना का उद्रेक करती है अतः सौंदर्य का स्वरूप लोकस्वीकृत होना चाहिए। व्यक्तिवैचित्र्यवाद से काव्य का सच्चा रूप सामने नहीं आ सकता। कवि जब रचना करता है तब वह वास्तव में आत्माभिव्यक्ति नहीं करता बल्कि अपने अनुभव को समाज के अनुभव में लीन कर देने का एक उपक्रम मात्र करता है। इसीलिए अहं का विसर्जन कवि के लिए आवश्यक है। उसके द्वारा व्यंजित भाव सदा सामान्य भूमि के (General) होने चाहिए। काव्य की सामाजिकता का ही ध्यान रखकर काडवेल उसमें लय और गेयता का होना आवश्यक मानता है।

इतना सब कहने के पश्चात् उपसंहार करते हुए उसने स्पष्ट कहा है कि कला के क्षेत्र में कलाकार को मजदूर नेता का काम करना चाहिए।*

यहाँ तक तो सिद्धांतों की बात हुई। अब काडवेल द्वारा निरूपित काव्य के ऐतिहासिक विकासक्रम को एक बार फिर देख लेना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार की ऐतिहासिक मार्क्सवादी व्याख्या पर ही उसके सिद्धांतों का ढाँचा खड़ा है। (काडवेल के सिद्धांतों का परिचय देते हुए आरंभ ही में यह दिखाया जा चुका

---

* It is a demand that you, an artist, become a proletarian leader in the field of art.

—*Illusion and Reality.*

है कि काव्य की उत्पत्ति के संबंध में उसकी क्या धारणा है। काडवेल कहता है कि प्रारंभिक साम्यवाद (Primitive Communism) के समय में तो काव्य सामूहिक जीवन के संपूर्ण ज्ञान (इतिहास, धर्म, वैद्यक आदि) को अभिव्यक्त करने का साधन था पर वर्ग-समाज के विकास के साथ-साथ उसकी एक अलग स्वतन्त्र सत्ता प्रतिष्ठित हुई। जिन वर्गों के हाथ में राजसत्ता थी उन्हीं पर प्रकृति से संघर्ष करने और सामाजिक जीवन संचालित करने का दायित्व पड़ा। काव्य, जो कि स्वतंत्रता-प्राप्ति का एक अस्त्र था, स्वभावतः सत्ताधारी वर्ग के कब्जे में आ गया और उसी वर्ग की भावनाओं की अभिव्यक्ति उसमें होने लगी। पहले तो उसमें उन सत्ताधारियों का प्रभुत्व समाज में बनाए रखने में सहायता देनेवाले 'भ्रम' की सृष्टि के साथ-साथ काव्य समाज के सामूहिक विकास में भी योग देता रहा पर धीरे-धीरे काव्य की सामाजिक भावना घटती गई और पूँजीवाद के आविर्भाव के बाद से तो वह असामाजिक ही हो गया, क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन पर व्यक्ति का अधिकार होता है और शेष सारा समाज कष्ट में जीवन बिताता है। इसीलिए पूँजीवादी काल के काव्य में व्यक्तिवैचित्र्यवाद, क्लिष्ट कल्पना और दुरूह कलात्मकता—ये सब असामाजिक प्रवृत्तियाँ आविर्भूत हो कर उसे समाज से दूर हटा देती हैं। यही विचार प्रतिपादित करते हुए काडवेल ने संपूर्ण अंगरेजी काव्य-साहित्य का ऐतिहासिक विवेचन किया है। मूर्तिकल्पनावाद (Imagism) व्यक्तिवैचित्र्यवाद, 'कला कला के लिए', फ्रायड का स्वप्न-सिद्धांत आदि अनेक यूरोपीय वादों और प्रवादों का खंडन करने के बाद काव्य के उपयोगितावाद को अंत में उसने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा कर छोड़ा है।

इस प्रकार काडवेल की सैद्धान्तिक व्याख्या को अत्यंत संक्षेप में और जहाँ तक हो सका है वहाँ तक स्पष्ट रूप में उपस्थित किया गया। उसकी कुछ बातों पर पहले विचार किया जा चुका है, जो बच रही हैं उन पर यथास्थान आगे विचार किया जाएगा। इसका इतना अधिक उल्लेख करना इसलिए आवश्यक हुआ कि आजकल के नए आलोचकों के लेखों में काडवेल के वाक्य प्रायः उद्धृत रहते हैं। ऐसी आलोचना का सबसे बुरा प्रभाव यह पड़ रहा है कि काव्य के विषय में कुछ लोगों की बड़ी सामान्य धारणाएँ बन गई हैं। मजदूरों के लिए लिखे गए कतिपय पद्यों को ही काव्य का सच्चा स्वरूप बतला कर उन रचनाओं की प्रशंसा के पुल बाँधे जाते हैं। युद्धकालीन प्रचार आदि के पद्य काव्य नहीं हैं, यह बात मानों लोग भूलते जा रहे हैं। इस प्रकार की भ्रमात्मक धारणा रूस के लेखकों में भी नहीं हैं, पर हमारे यहाँ आजकल ऐसी "प्रगतिवादी भावनाओं" का खूब जोर है। गत महायुद्ध में रूस के लेखक यद्यपि घनघोर लड़ाइयों के बीच, मृत्यु की छाया में बस कर प्रचारात्मक रचनाएँ करते रहे पर उन रचनाओं को साहित्य की सम्पत्ति मानने की भूल उन्होंने नहीं की। रूस के इलिया एरनबर्ग नामक एक प्रसिद्ध नवीन लेखक ने युद्धकाल में एक लेख लिखा था—"मेरी रचना के विषय" (**The things I write about**) किसी ने उससे पूछा था कि गत तीन वर्षों से आप एक ही विषय (युद्ध और शत्रुओं के संबंध में) पर कैसे लिखते आ रहे हैं ? उसने उत्तर दिया, "मैं जानता हूँ कि 'शत्रु' साहित्य का विषय नहीं है पर देश के ऐसे विपत्तिकाल में उसकी दुर्दशा, और शत्रुओं के अत्याचार आदि पर लिखे बिना कैसे रहा जा सकता है। वह दिन मेरे लिए अत्यंत शुभ और परम आनंददायक होगा जब मैं अन्य विषयों पर और विशेष रूप से कला की

वस्तुएँ लिख सकूँगा, जो मुझे अत्यंत प्रिय हैं।"* यहाँ मैं जिस बात पर जोर देना चाहता हूँ वह यह है कि प्रचारात्मक रचनाओं और स्थायी साहित्य की कृतियों के भेद से आज का रूसी लेखक भी अवगत है। आपद्धर्म के काल में प्रचारात्मक रचनाएँ हों, इसे कोई रोक नहीं सकता पर उन रचनाओं को साहित्य की सम्पत्ति मानकर उनके आधार पर ही स्थायी समीक्षा सिद्धांतों की स्थापना का प्रयत्न शुद्ध पाषंड है।

इसमें संदेह नहीं कि आजकल मार्क्सवाद के राजनीतिक विचारों से संपूर्ण साहित्य-प्रणालियों को ढँक देने का अवांछनीय उपक्रम कुछ लोग कर रहे हैं। व्यवहार में चाहे मार्क्सवाद के सिद्धांतों से कोसों दूर हों, पर वहीं से खड़े खड़े मार्क्सवाद की जय मनाना आजकल का एक फैशन हो गया है। आजकल के नए कविगण प्रायः आलो-

---

* A certain writer asked me recently: "How can you go on for three years writing about one and the same thing ?"—Yes, it is difficult. But it is more difficult to go on fighting for three years. History has not been gracious to us......the enemy is not a literary theme—he is a calamity......

For nearly three years they (Russians) have been eating with death, sleeping with death, arguing with death.

I will bless the day when we can forget about the Germans. That will indeed be a wonderful day. I would like to be thinking about other things and writing about other things......about that which is thrice precious to me,—art......

—*Peoples War* (Soviet number) 5th Nov. 1944.

चक भी होते हैं, या आलोचक कहलाने के लिए उत्सुक रहते हैं। अपने लेखों में तो ये पूंजीवाद के खिलाफ जिहाद बोलते हैं, उसकी कुटिल और क्रूर व्यवस्था का परिचय देते हुए उनके नाश की कामना करते हैं और अपने संपूर्ण पूर्ववर्ती साहित्य को पूँजीवादी या सामंतवादी संस्कृति से आच्छन्न बतला कर उसकी भर पेट निंदा करने से नहीं चूकते, पर उनकी रचनाओं को देखिए तो परिमाण में अधिकांश ऐसी ही रचनाएँ मिलेंगी जिनमें नई रंगत के प्रेम की विवृति, रोमांस की सुनहली दुनिया, वासना के कुत्सित चित्र और तज्जन्य आकुलता का प्रदर्शन आदि भरे मिलेंगे। सारे प्राचीन साहित्य की निंदा करने का चलन घोर असाहित्यिकता का द्योतक है। अब तक का साहित्य निकृष्ट है; हम अब उपयुक्त साहित्य-सर्जन के लिए प्रयासशील हैं—इस प्रकार की बातों से अनावश्यक दंभ प्रदर्शित होता है। इस प्रकार का अनावश्यक मंतव्य-प्रकाशन छोड़कर सत्सा-हित्य की सृष्टि में संलग्न होना ही कवियों का साध्य होना चाहिए। सभी कवियों के आलोचक बन जाने से बड़ी गड़बड़ी फैलने लगती है, क्योंकि अधिकांश के विचार अपने तो होते नहीं, वे अंगरेजी के मार्क्सवादी आलोचकों की प्रतिध्वनि मात्र होते हैं। विचार उनके अपने नहीं होते, अतः उनकी रचनाओं और इन विचारों में कोई सात्म्य नहीं दिखाई देता। विदेशी लेखकों की उद्धरणी कर और चिल्ला चिल्ला कर, आँख मूँदे हुए उनका समर्थन करते चलने से कोई लाभ न होगा।

———

प्रगतिवादी काव्य के विषय

प्रगतिवाद के दो अर्थ

('प्रगतिवाद' शब्द काव्य के क्षेत्र में सामान्यरूप से आजकल दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। एक तो सामान्य राष्ट्रीय और सामाजिक कविताओं के लिए और दूसरे, मार्क्सवादी विचारधारा से अनुशासित रचनाओं के लिए। पहले ढंग की रचनाओं के अंतर्गत देशभक्ति के उद्‌गार, अतीत और वर्तमान देश-भक्तों एवं राष्ट्रनायकों की प्रशस्तियाँ, तथा देश की वर्तमान राजनीतिक और सामाजिक अवनति का दिग्दर्शन कराने वाली क्षुब्ध मनोदशा से भरी रचनाएँ आती हैं। दूसरे ढंग की रचनाओं की भी दो कोटियाँ दिखाई देती हैं। एक तो कम्यूनिस्ट पार्टी का दल-गत साहित्य (पार्टी-लिटरेचर), जिसमें रूसी कम्यूनिस्ट पार्टी की नीति को ही सर्वोपरि महत्त्व दिया जाता है। दूसरे वे कृतियों जिनमें मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की स्वीकृति तो अंतर्निहित रहती है पर कम्यूनिस्ट पार्टी की नीति का बंधन

जिन्हें स्वीकार नहीं है। इनमें से पहले प्रकार की रचनाओं के अंतर्गत अतीत की संपूर्ण व्यवस्थाओं के प्रति घोर असंतोष की व्यंजना करने वाली, मार्क्सवादी विचारों के पद्यानुवाद रखकर बौद्धिक रूप में प्रभाव डालने का प्रयास करने वाली, तथा रूस और मार्क्स की प्रशंसा कर उनकी व्यवस्थाओं को अपने यहाँ प्रतिष्ठित करने के लिए आकुलता दिखानेवाली रचनाओं का आधिक्य है। ऐसी रचनाएँ लिखने वाले कवि पार्टी के मेंबर हों या न हों पर पार्टी के वफादार बराबर बने रहते हैं। दूसरे प्रकार की रचनाएँ मार्क्स के जीवन दर्शन से प्रभावित अवश्य होती हैं पर उनके लेखकों में सांप्रदायिकता अपेक्षाकृत कम होती है। वे रूस की ही ओर बराबर नहीं देखते रहते और अपेक्षाकृत स्वतंत्र चेता होते हैं, किसी राजनीतिक दल की विचार-परिधि में ही बंद नहीं रहा करते।

इस प्रकार कुल मिलाकर प्रगतिवादी काव्यधारा के अंतर्गत तीन प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं—सामान्य रूप से राष्ट्रीयता या स्वतंत्रता की भावना से युक्त और सामाजिक असंगतियों की व्यञ्जना करने वाली; मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित—आर्थिक संघटन के परिपार्श्व में वर्तमान समाज व्यवस्था को रख कर प्रगति का पथ निर्धारित करने वाली और कम्यूनिस्ट पार्टी की नीति का प्रचार करने वाली।

प्रगतिवाद की परंपरा

कुछ लोग हिंदी में प्रगतिवाद की परंपरा कबीर और तुलसी से दिखाने का प्रयत्न करते दिखाई दे जाते हैं। पर यह बात उचित नहीं जान पड़ती। यदि कहिए कि सामाजिक विश्रृंखलताओं की ओर दृष्टिपात कर सारे संप्रदायों को एकता के सूत्र में बाँधने का उपदेश देने के कारण कबीर, और अपनी तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक दुरवस्था के बीच लोकमंगल की भावना का अवस्थान करने के लिए उत्सुक गोस्वामी तुलसीदास अपनी मानव-कल्याण की प्रवृत्ति के कारण, प्रगतिवादी कवियों की परंपरा में आते हैं तो यह

नितांत भ्रम है ; क्योंकि वर्तमान प्रगतिवाद की एक निश्चित दृष्टि है मार्क्सवाद की, जो समाज की संपूर्ण व्यवस्थाओं को अपने ही ढंग से देखती है, अतः काव्य की व्यापकत्व-विधायिनी मंगल भावना का विचार करने पर निश्चय ही संकीर्ण ठहरती है) इसीलिए यह भी कहा जा सकता है कि इस दूसरे ढंग को प्रगतिवादी काव्यधारा को भारतेंदु द्वारा प्रतिष्ठित देशभक्ति और सामाजिक रचनाओं की शुद्ध परंपरा में भी देखना ठीक नहीं, क्योंकि भारतेंदु युगके कवि राजनीतिक या अन्य किसी संप्रदाय के निश्चित निर्देश पर चलकर रचनाएँ नहीं करते थे। हाँ पहले ढंग की राष्ट्रीय और सामाजिक रचनाओं को भारतेंदु द्वारा प्रवर्तित काव्यधारा की परंपरा में अवश्य रखा जा सकता है, जिसका विकास सर्व श्री मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के द्वारा होता हुआ वर्तमान समय तक पहुँचा है। इस परंपरा को अपनी प्रधान सांप्रदायिक प्रवृत्ति के भीतर ग्रहण न करने से उपरिलिखित दूसरे अर्थ में प्रयुक्त 'प्रगतिवाद' की सम्यक् प्रतिष्ठा हिंदी-काव्य के क्षेत्र में होना अत्यन्त कठिन है, इसलिए (कई प्रगतिवादी लेखकों का यह मत है कि अपनी निश्चित विचारधारा रखते हुए भी हम उन सभी रचनाओं को प्रगतिवादी मानते हैं जो देशभक्ति की भावना से भावित हैं और जो सामाजिक हैं।)

रचना के विषय

(यहीं अब प्रगतिवादी कविताओं का संक्षेप में सर्वेक्षण करा देना आवश्यक समझता हूँ। जैसा कि कहा जा चुका है, प्रगतिवाद की सर्वप्रथम दिखाई पड़ने वाली प्रवृत्ति थी (जो अब भी है) राजनीतिक सिद्धांतविशेष का पद्यानुवाद अथवा उसकी विचारधारा का ग्रहण। 'युगवाणी' के 'विज्ञापन' में लिखे गए ये वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—' युगवाणी में मैंने युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया है", इसमें कवि का लक्ष्य है युग-प्रवृत्ति का आभास

मात्र देना—"यदि युग की मनोवृत्ति का किंचिन्मात्र आभास इसमें मिल सका तो मैं अपने प्रयास को विफल नहीं समझूँगा।")

"युगवाणी' का कवि ऐसी 'नव संस्कृति' के आविर्भाव का अभिलाषी है जिसमें—

रूढ़ि रीतियाँ जहाँ न हों आराधित,
श्रेणिवर्ग में मानव नहीं विभाजित।
धन-बल से हो जहाँ न जन-श्रम शोषण,
पूरित भव-जीवन के निखिल प्रयोजन।
× × × ×
संस्कृत वाणी, भाव, कर्म, संस्कृत मन,
सुन्दर हों जन-वास, वसन, सुन्दर तन।
—ऐसा स्वर्ग धरा में हो समुपस्थित,
नव मानव-संस्कृति-किरणों से ज्योतित,

(उसका विचार है कि इसी नवसंस्कृति के लिए 'मानव-जग' में 'पतझार' आया है। आज युगों के बाद यह युगांतर हो रहा है। प्राचीन व्यवस्थाओं के नष्ट होने से डरना नहीं चाहिए, फिर शीघ्र ही 'नवल मुकुल मञ्जरियों' से विश्व शोभित होगा, जिसके 'नवमधु' का वैभव मानव शताब्दियों तक भोगेगा।

परिवर्तन तो जगजीवन का चिरंतन नियम है। कितने ही 'मुखियों, कुलपतियों, सामन्तों और महंतों' के वैभव-क्षण सागर के बुल्ले की भाँति बिला गए। आज—

रजत स्वप्न साम्राज्यवाद का ले नयनों में शोभन,
पूँजीवाद निशा भी है होने को आज समापन।

'नृशंस, दर्पी, हठी; निरंकुश, निर्मम, कलुषित, कुत्सित' धनपति समाज को जोंक की भाँति चूसते हैं। दुनिया को उनकी जरूरत नहीं,

उनके अंतिम क्षण अब आए ही समझिए और मध्यमवर्ग के व्यक्ति की दशा यह है—

संस्कृति का वह दास : विविध विश्वास विधायक,
यशकामी, व्यक्तित्व प्रसारक, परहित निष्क्रिय।

उधर कृषक—

युग युग का वह भारवाह, आकटि नतमस्तक।
... ...
विश्व विवर्तनशील, अपरिवर्तित, वह निश्चल।
वही खेत, गृह, द्वार, वही वृष, हँसिया औ' हल।
... ...
वह संकीर्ण, समूह-कृपण, स्वाश्रित, पर-पीड़ित।

परंतु श्रामिक—

लोकक्रान्ति का अग्रदूत, वर-वीर, जनादृत,
नव्य सभ्यता का उन्नायक, शासक, शासित—
चिर पवित्र वह : भव अन्याय घृणा से पालित,
जीवन का शिल्पी,—पावन श्रम से प्रक्षालित।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये विचार कवि के अपने नहीं, 'युग' के हैं, मतलब मार्क्सवाद के हैं, जिसकी चर्चा पहले अध्याय के अंत में की गई है। अन्यथा देहातों में आँख खोलकर देखने से पता चलता कि 'कृषक' भी आज 'श्रमिक' की ही भाँति 'लोक क्रांति के अग्रदूत' बनने के लिए छटपटा रहे है।

ग्रामीणों की दुर्दशा का वर्णन करने वाली श्री भगवतीचरण वर्मा की "भैंसागाड़ी" शीर्षक कविता ने पहले लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया था। उसकी कुछ पंक्तियाँ—

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे, कुछ पाँच कोस की दूरी पर,
भू की छाती पर फोड़ों-से, हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर।

मैं कहता हूँ खँडहर उसको पर वे कहते हैं उसे ग्राम।
जिसमें भर देती निज धुँधलापन, असफलता की सुबह शाम।
पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ, नारियाँ जन रहीं हैं गुलाम।
पैदा होना फिर मर जाना, यह है लोगों का एक काम॥

... ...

वह राजकाज जो सधा हुआ है इन भूखे कंगालों पर,
इन साम्राज्यों की नींव पड़ी है तिल-तिल मिटने वालों पर।
वे व्यौपारी, वे जमींदार, जो हैं लक्ष्मी के परम भक्त,
वे निपट निरामिष सूदखोर पीते मनुष्य का उष्ण रक्त।
इस राजकाज के वही स्तंभ उनकी पृथ्वी उनका ही धन,
ये ऐश और आराम उन्हीं के, और उन्हीं के स्वर्ग-सदन।
उस बड़े नगर का राग-रंग हँस रहा निरंतर पागल-सा,
उस पागलपन से ही पीड़ित कर रहे ग्राम अविकल क्रन्दन।

... ...

दानवता का सामने नगर!
मानव का कृश-कंगाल लिए—
'चरमर चरमर-चूँ-चरर-मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी!

इस प्रकार शोषक वर्ग के अत्याचारों के विशद चित्र देकर, चूस लिए गए किसानों और श्रमिकों की मर्मांतक दशा का आभास देने का प्रयत्न प्रगतिवादी कवियों ने किया है। मार्मिकता की दृष्टि से चाहे दो चार ही ऐसी रचनाएँ अच्छी कही जा सकें पर सामान्य प्रवृत्ति इस प्रकार की अवश्य है। ऐसी रचनाओं में देखना यह चाहिए कि इनमें केवल रोषप्रकाशन और इधर-उधर की सुनी-सुनाई बातें मात्र कह कर ही तो लेखक नहीं बैठ गया। यदि दलितवर्ग

के लिए वास्तविक समानुभूति दिखानी है और स्वयं उनमें उत्साह का संचार करना है तो उनकी अवस्था के संश्लिष्ट चित्र रखने चाहिए। उस चित्र के दर्शन मात्र से भाव हृदय के भीतर जग सकते हैं। पर वह चित्र अवश्य विशद और ऐसा सजीव होना चाहिए जिसकी महीन से महीन रेखाएँ कौशलपूर्वक खींची गई हों और जिसे अनुभूतियों से अनुरञ्जित कर प्राणमयता प्रदान की गई हो।

दूसरी प्रणाली इसके लिए है मार्मिक कथा-प्रसंगों की उद्भावना। यह कहते हुए मैं यह नहीं भूल रहा हूँ कि इसमें वर्णनात्मकता अथवा शुष्क इतिवृत्तात्मकता की आशंका कुछ लोगों को हो सकती है। पर यदि कविगण अनुभूतियों से रञ्जित कथाओं की मार्मिक उद्भावनाएँ करें, उनकी दृष्टि किसी वाद पर न रहकर काव्य की प्रेषणीयता (Communicability) का ध्यान रखते हुए प्रभावोत्पादकता और स्वाभाविकता की ओर रहे तो मार्मिक और भावमग्न करने वाली रचनाएँ अवश्य हो सकती हैं। बात यह है कि कवि के केवल यह कह देने से कि मैं यह दुर्दशा देख रहा हूँ और इसे देखकर मेरी छाती फटी जा रही है, या खून उबल रहा है, या मारे क्रोध के देह काँप रही है, कुछ नहीं होता और यह काव्य की दृष्टि से देखने पर प्रलापमात्र ठहरता है। उसे यह भी ध्यान रखना होगा कि इन चित्रों को इतना सजीव और संश्लिष्ट बनाना है, अपने वर्णनों को इतना मार्मिक बनाना है, और अपने भावों को क्षणिक आवेश की उपज न समझकर काव्य के क्षेत्र में ऐसा मर्म-पथ ग्रहण करना है जिससे पाठक के हृदय पर उसका कुछ प्रभाव पड़े। मेरी दृष्टि में श्री सियारामशरण गुप्त छोटे-छोटे सामाजिक कथा-प्रसंग की उद्भावना कर उनका मार्मिक काव्यात्मक वर्णन करने वाले निपुण कवि हैं, अतः सामाजिक कथात्मक प्रसंगों को लेकर लिखी गई उनकी ऐसी छोटी छोटी कविताएँ रचना-प्रक्रिया और विषय की दृष्टि

से महत्व की है। नवीन दिशा की ओर चलनेवाले रचनाकारों को उनकी ओर ध्यान देना चाहिए।

मार्क्सवादी विचारधारा का भौतिकवाद प्रचारित करना नए कवियों की एक प्रवृत्ति है, यह ऊपर कहा जा चुका है। पंतजी एक ओर तो भौतिक दर्शन की विचार-श्रृंखला सामने रखते हैं और दूसरी ओर गांधीवाद की। उनका विश्वास है कि गांधीवाद 'मनुष्यत्व का तत्त्व' सिखाता है और साम्यवाद 'सामूहिक जीवन-विकास' का सबसे अच्छा साधन है। इस प्रकार गांधीवाद का 'सत्य और अहिंसा' तो उन्हें व्यक्तिगत साधना के लिए उपयुक्त प्रतीत होता है और उधर भौतिकवाद भव-जीवन के दैन्य-दुःख से परित्राण दिलानेवाला और महान् सामूहिक जनतन्त्र का अधिष्ठाता दिखाई देता है। उन्हें किसी 'वाद' की अति नहीं प्रिय है और दोनों की विशेषताएँ वे ग्रहण करना चाहते हैं। 'संकीर्ण भौतिकवादियों के प्रति' उनका कथन है—

> हाड़ मांस का आज बनाओगे तुम मनुज समाज ?
> आत्मवाद पर हँसते हो भौतिकता का रट नाम ?
> मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम ?

वे केवल बाहरी आर्थिक समता से ही संतुष्ट नहीं, बल्कि मानव-मानव के बीच आंतरिक साम्य के अभिलाषी हैं। पर यह समझ रखना चाहिए कि ये पंतजी के अपने स्वतन्त्र विचार हैं। आजकल का प्रगतिवादी तो मार्क्सवाद का शब्दशः अनुवाद चाहता है काव्य में और उसका पूर्ण ग्रहण चाहता है जीवन के भीतर।

श्रमिकों और किसानों का नए काव्य-क्षेत्र में किस प्रकार ग्रहण होता है, इसका यहाँ थोड़ा और परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। वर्तमानकाल में श्रमिकों और किसानों के चित्रण तो खूब हुए हैं पर अधिकतर वे निर्जीव और बिलकुल गद्यात्मक हुए हैं जिनमें भाव-

संचार की क्षमता नहीं है। इसीलिए कहना पड़ता है कि केवल फैशन के रूप में इस प्रवृत्ति का ग्रहण होने के कारण बहुत अधिक कूड़ा करकट जमा हो रहा है। जो भी हो, श्रमिकों आदि के करुण चित्र दिखाने के बाद जन-जागरण गान की बारी आती है—

खोलो लाल निशान !
हो सब लाल जहान ! खोलो लाल निशान !

× × × ×

क्योंकि—
लाल रूस है ढाल साथियों, सब मजदूर किसानों की।
वहाँ राज है पंचायत का, वहाँ नहीं है बेकारी।
लाल रूस का दुश्मन, साथी, दुश्मन सब इन्सानों का।
दुश्मन है सब मजदूरों का, दुश्मन सभी किसानों का।

—नरेन्द्र

रूस पर रचना करना प्रगतिवादी कहलाने की पहली शर्त सी हो गई है। आजकल समाजवादी विचारों का क्षेत्र कतिपय विशेषताओं के कारण अपनी ओर सभी सजग लेखकों को आकृष्ट करता है। यह अनुचित नहीं है। अनुचित है समाजवाद का चौखटा बनाकर उसके भीतर कल्पित भावों की धुँधली रेखाएँ खींचना। रूस की प्रत्येक गतिविधि को देखकर अपनी समस्याओं की ओर देखना तो ठीक है पर उसकी प्रशस्तियों से अपने काव्यक्षेत्र को एकदम पाट देना हम ठीक नहीं समझते। काव्य राजनीति का क्रीड़ा-स्थल नहीं है, यह बात यदि हम ध्यान में रखें तो साहित्य का बड़ा उपकार हो।

समाज की विशृंखलताओं पर प्रगतिवादी कवियों की दृष्टि विशेष गई है इसमें संदेह नहीं। समाज की वर्तमान दयनीय दशा के मार्मिक वर्णन इनके द्वारा अवश्य हुए हैं किसानों तथा मजदूरों आदि की

करुण दशा देखकर कवि को क्षोभ-मिश्रित आश्चर्य होता है कि ऐसी विपन्नावस्था में भी ये जीवित कैसे रहते हैं—

वह नस्ल जिसे कहते मानव, कीड़ों से आज गई बीती,
बुझ जाती तो आश्चर्य न था, हैरत है पर कैसे जीती !
—अंचल

ऐसे शोषक समाज की धज्जी उड़ जाय तभी ठीक—

हो यह समाज चिथड़े-चिथड़े,
शोषण पर जिसकी नींव पड़ी ।
—अंचल

इतना ही नहीं, वह ईश्वर जिसने क्षुधातुरों की भूख नहीं मिटाई, दलितों की सहायता नहीं की, अत्याचारी शोषकों का दलन नहीं किया, वह महाउन्मत्त हड्डियों का शोषक है, नाश हो जाय उसका। यदि वह ईश्वर मंदिर में अधिष्ठित होकर समाज का खून चूसने वाले सेठजी का हलवा पूरी खानेवाला या बीस आने के लड्डू खाकर दीनजनो का शोषण करनेवाले साहूकार पर वरदानों की वर्षा करनेवाला है तब तो उसके प्रति रोष-प्रकाशन जितना हो ठीक ही है। पर लोक के बीच अधिष्ठित ईश्वर की शिवमूर्ति का घृणा से सत्कार करनेवाला रोष औचित्य की सीमा का अतिक्रमण करता दिखाई देता है—

आज भी जन-जन जिसे करबद्ध होकर याद करते।
नाम ले जिसका गुनाहों के लिए फरियाद करते।
किंतु मैं उसका घृणा की धूल से सत्कार करता।
—अंचल

फिर भी यह तो निश्चित ही है कि समाज के निम्नवर्ग की ओर नए कवि विशेष ध्यान दे रहे हैं। पासी के दो मटमैले साँवले लड़के, जो फुर्ती से सिगरेट के खाली डिब्बे, चमकीली पन्नी आदि बटोर कर ले जाते हैं और अपनी इस निधि पर प्रसन्न होते हैं—कवि को बड़े प्यारे लगते हैं। उनकी—

सुन्दर लगती नग्न देह, मोहती नयन मन,
मानव के नाते उर में भरता अपनापन।
—पंत

(इसके साथ ही दीनजनों के कुछ व्यंगात्मक चित्र भी नवीन कवियों ने दिए हैं।) 'चंदू' का एक ऐसा चित्र देखिए—

चंदू चना चबैना खाता।
मुफ्त मिले अपने जीवन के
घंटों, मिनट, सेकंडों को गिन—
कभी नहीं वह दाम लगाता!
भीख माँगते पैसा पाता।
ईश्वर, धर्म, समाज, संपदा,
विद्या, बुद्धि, विवेक खोजता—
कभी नहीं वह समय गवाँता!
× × ×
कहीं एक कोने में बैठा
हाथ चरस की चिलम दबाए,
गुपचुप-गुपचुप फूँक लगाता,
शेष आयु का धुँआ उड़ाता!
चंदू चना चबैना खाता!
—केदारनाथ अग्रवाल

(प्रगतिवादी कवियों ने ग्रामों की ओर अपनी कल्पना का स्रोत एक नवीन विचार-प्रणाली से प्रवाहित किया है। अपनी 'ग्राम्या' के निवेदन में पंत जी कहते हैं कि "ग्राम जीवन में मिलकर, उसके भीतर से, ये (कविताएँ) अवश्य नहीं लिखी गई हैं। ग्रामों की वर्तमान दशा में वैसा करना केवल प्रतिक्रियात्मक साहित्य को जन्म देना होता।" वर्तमान ग्राम ऐसे हैं—

जहाँ दैन्य जर्जर असंख्य जन, पशु जघन्य क्षण करते यापन।

....

सुलभ यहाँ रे कवि को जग में युग का नहीं सत्य शिव सुन्दर।

'ग्राम्या' में पंत जी की मार्मिक कल्पना ने कुछ अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्र उपस्थित किए हैं। इनमें हृदय को स्पर्श करने की पूर्ण क्षमता है। पर 'बौद्धिकता' कहीं-कहीं धोखा दे गई है। जैसे 'ग्रामबधू' की विदाई का वर्णन करनेवाली कविता लीजिए।

नहीं आँसुओं से आँचल तर,
जन-विछोह से हृदय न कातर।
रोती वह रोने का अवसर,
जाती ग्रामवधू पति के घर।

पर इस पर इतना ही कहा जा सकता है कि ग्राम-जीवन से पूर्ण परिचित व्यक्ति ऐसा नहीं कह सकता।

नवीन दृष्टिकोण से लिखी गई 'भारतमाता' शीर्षक कविता बहुत सुन्दर बन पड़ी है। यह पंत जी की बदली हुई दृष्टि की पूर्ण परिचायिका है। इसका यथार्थ दर्शन ऐसा है जो मर्म पर आघात करता है—

भारत माता
ग्रामवासिनी।
खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला सा आँचल,
गङ्गा-यमुना में आँसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी
तीस कोटि संतान नग्न तन,
अर्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन,

नत मस्तक
तरु तल निवासिनी
स्वर्ण शस्य पर-पद तल लुंठित,
धरती-सा सहिष्णु मन कुंठित,
क्रंदन कंपित अधर मौन स्मित,
राहु-ग्रसित
शरदेन्दु हासिनी

('ग्राम्या' के कवि ने देखा है कि ग्रामों में 'युगयुग से अभिशप्त', 'अन्न-वस्त्र पीड़ित', 'पारस्परिक कलह में रत' नर-नारी रहते हैं। ग्राम 'प्रकृतिधाम' हैं जहाँ तृण-तृण कण-कण प्रफुल्ल हैं पर अकेला मानव ही 'चिर विषण्ण' है। वहाँ कवि ने 'नव आषाढ़ की घटा सी सुंदर' युवतियों के दर्शन किए हैं, जो दो ही दिनों में दुःख से पिसकर जर्जर हो जाती हैं। उनका यौवन 'भूले हुए स्वप्न' की भांति क्षण में ही विलीन हो जाता है।)

'ग्राम्या' के प्रगतिवादी कवि ने कुछ मार्मिक कथा-प्रसंगों की भी उद्‌भावना की है। जैसे 'वे आँखें' में, जिसमें एक ऐसे किसान का वर्णन है जो जमींदार और उसके कारकुनों के नृशंस अत्याचार और सूदखोरों के शोषण से बिलकुल उजड़ ही गया है। 'अंधकार की गुहा सरीखी' उसकी आँखों को देखकर डर लगता है! इससे मिलती जुलती दूसरी रचना है 'वह बुड्ढा'--

उसका लंबा डील डौल है,
हट्टी कट्टी काठी चौड़ी।
इस खँडहर में बिजली सी,
उन्मत्त जवानी होगी दौड़ी।

पर अब उसकी हालत यह है कि छाती की हड्डी बैठ गई है, पेट

पिचक गया है, कंधों पर गड्ढे हो गए हैं। अब वह हाथ जोड़ जोड़कर कातर वाणी से भीख माँगता फिरता है। इन सब विषमताओं का मूल कारण वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक दुर्व्यवस्था है, जिसे उलटकर समाजवाद प्रतिष्ठित करने में ही कल्याण है। पंत जी ने इसमें रूढ़िवादी मान्यताओं से आच्छन्न 'ग्राम देवता', धोबियों, कहारों आदि के नाच, 'नहान'—इस प्रकार के अनेक विषयों पर रचनाएँ की है।

ग्रामों के दयनीय दृश्य का वर्णन करने के पश्चात् वहाँ की प्राकृतिक सुषमा पर भी कवियों की दृष्टि गई है। पंतजी के प्राकृतिक वर्णनों का क्या पूछना। यहाँ तो प्रकृति पर मुग्ध होकर उनकी कल्पना ऐसे रमणीय दृश्यों का विधान करती दिखाई पड़ती है जिनमें हृदय पूरा मग्न होता चलता है। प्रगतिवादी पंतजी की प्रकृति संबंधी कविताओं में दो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं—भाषा में सरलता और यथार्थवादी मनो-दृष्टि संबंधी। उनके अनेक मनोमुग्धकारी चित्रों में से प्रातःकालीन ग्राम शोभा का एक वर्णन देखिए—

मरकत डिब्बे सा खुला ग्राम,
जिस पर नीलम नभ आच्छादन,
निरुपम हिमांत में स्निग्ध शांत,
निज शोभा से हरता जन मन।

खेत की मेड़ पर बैठकर देखा हुआ एक 'स्वयंवर' भी देख लीजिए—

एक बीते के बराबर
यह हरा ठिंगना चना
बाँधे मुरैठा शीश पर—
छोटे गुलाबी फूल का,

सज कर खड़ा है।
पास ही मिलकर उगी है,
बीच में, अलसी हठीली—
देह की पतली, कमर की है लचीली;
नील फूले फूल को सिर पर चढ़ा कर
कह रही है,
जो छुए यह,
दूँ हृदय का दान उसको!
और,
सरसों की न पूछो!
हो गई सबसे सयानी!
हाथ पीले कर लिए हैं;
ब्याह मंडप में पधारी।
फाग गाता मास फागुन
आ गया हो पास जैसे!
देखता हूँ मैं, स्वयंवर हो रहा है!

—केदारनाथ अग्रवाल

कितना मोहक और सहज-ग्राह्य चित्र है!

पर इस प्रकार के स्वतंत्र प्रकृति-चित्रणों की अपेक्षा ऐसे वर्णन अधिक मिलते हैं जिनमें प्रकृति के माध्यम से सामाजिक असंगतियाँ व्यक्त की गई हैं, या उसे किसी भावना का प्रतीकत्व प्रदान किया गया है, जैसे यहाँ—

लाखों की अगणित संख्या में
ऊँचा गेहूँ डटा खड़ा है।
ताकत से मुट्ठी बाँधे है;
नोकीले भाले ताने है;

हिम्मत वाली लाल फौज-सा
मर मिटने को झूम रहा है।
× × × ×
.........गेहूँ नहीं हारता,

... ...
हँसिया से आहत होता है,
तन की मन की बलि देता है;
पौरुष का परिचय देता है;
सतत घोर संकट सहता है;
अंतिम बलिदानों से अपने
सबल किसानों को करता है।
(गेहूँ—केदार)

छायावादी रचनाओं में प्रकृति कवि की स्वानुभूति से रंजित हो कर सामने आती है और प्रगतिवादी कविताओं में पूर्वनिश्चित बौद्धिक धारणा को व्यक्त करने के साधन रूप में। कहीं कहीं तो काव्य पद्धति के भीतर बहुत पहले से चले आते हुए भाव-संबंध को एक दम छोड़ कर प्राकृतिक दृश्य चित्रित कर दिए जाते हैं—

यह चाँद चुरा कर लाया है,
सूरज से अपनी चाँदनी,
सूरज निकला, अब चाँद कहाँ?
छिप गई लाज से चाँदनी।
दुःख और कर्म का यह जीवन,
वह चार दिनों की चाँदनी।
यह कर्म-सूर्य की ज्योति अमर,
वह अंधकार की चाँदनी।
(चाँदनी—रामविलास शर्मा)

नारी को प्रायः सभी नवीन कवियों ने अपने काव्य का विषय बनाया है। नर-समाज ने वर्तमान काल में, अपनी वासना की पूर्ति का एक साधनमात्र बनाकर नारी को कृत्रिम आदर्शात्मक नियमों में बाँध बंदिनी बना रखा है ; उसे मुक्ति मिलनी चाहिए—

क्षुधा काम वश गत युग ने
पशुबल से कर जन शासित
जीवन के उपकरण सदृश
नारी भी कर ली अधिकृत
अब—मुक्त करो जीवनसंगिनि को,
जननि देवि को आदृत,
जग-जीवन में मानव के सँग,
हो मानवी प्रतिष्ठित।

—पंत

इसमें संदेह नहीं कि वर्तमान समय में हमारे यहाँ नारी की बड़ी ही दयनीय स्थिति है। अपनी सुविधाओं के अनुसार पुरुषवर्ग ने उसके लिए कुछ स्थूल नियम बना दिए, जिनके भीतर रहकर ही वह अपने को गौरवान्वित समझती रही। पर वास्तविकता यह है कि वह दिन प्रतिदिन निष्प्राण और ज्ञान-मूढ़ होती गई। सच पूछिए तो बाहरी सौंदर्य-प्रसाधनों से सजाकर और उसके रूप की प्रशंसा कर पुरुष ने नारी को अपनी लालसा की प्रतिमूर्ति बना डाला। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'सिंदूर की होली' की एक स्त्री पात्र ने ये उद्गार प्रकट किए हैं—"पुरुष ने स्त्री की कमजोरी को गुण बना दिया और वह उसी की प्रशंसा में सदैव के लिए आत्मसमर्पण कर बैठी।" यह स्वतंत्रता की भावना उच्छृङ्खलता की सीमा तक न पहुँच जाय, हमें इसका ध्यान रखना चाहिए। स्वच्छंद 'आधुनिका' के प्रति कवि कहता है—

तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी,
आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी !

—पंत

उधर दीन-दुनिया से अपरिचित, केवल हास विलासमयी' कुलवधुओं पर भी 'स्वीट पी के प्रति' शीर्षक कविता में अन्योक्ति के द्वारा कवि व्यङ्ग करता है—

कुल वधुओं सी अयि सलज्ज सुकुमार !
शयन-कक्ष, दर्शनगृह की शृङ्गार !
उपवन के यत्नों से पोषित,
पुष्प-पात्र में शोभित रक्षित,
कुम्हलाती जाती हो तुम, निज शोभा ही के भार !

—पंत

(यहाँ पर एक बात कह देनी आवश्यक है कि पंत जी की सी समन्वय बुद्धि अधिकांश नवयुवक कवियों में नहीं है। किसी बात के कहने में कवि का अभिप्राय क्या है, इससे भी अधिक इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि उसका प्रभाव पाठकों पर क्या पड़ता है या पड़ सकता है।) यदि नारी के ऐसे चित्र प्रदर्शित किए जायँ जिनमें उसके रूप की विकृति पर ही अधिक ध्यान दिया गया हो, उसका विवश, पर वासनामय रूप ही सामने आता हो, उसके नष्ट होते हुए रूपमाधुर्य का ही ब्योरे के साथ वर्णन हो, उसकी (परिस्थिति-जन्य ही सही) कुत्सित मनोवृत्तियाँ ही सामने आती हों, तो पाठक पर इसका बहुत अस्वस्थ प्रभाव पड़ेगा। जिन परिस्थितियों ने उनका यह रूप संभव बनाया है और जिन नवीन युग-प्रेरणाओं से उसकी स्थिति बदल सकती है उन्हीं पर कवि की दृष्टि अधिक टिके तभी उसकी रचना का मंगलकारी प्रभाव निष्पन्न हो सकता है। (वासना और रूप-विकृति का लम्बा चौड़ा ब्योरा देना समाज के मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से

घातक है। वास्तविक सौंदर्य और शक्ति की मंगलमयी देवी का रूप प्रतिष्ठित करने वाली विचारधाराओं को हृदयस्पर्शी भावों के साँचे में ढालने से ही हमारे वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है।

इसमें संदेह नहीं कि 'प्रेम' का स्वरूप आज बहुत विकृत हो गया है। 'प्रेम' जैसे वासना का पर्याय हो गया हो, यद्यपि कहा ऐसा नहीं जाता। प्रेम की पवित्र भावना, जो बहुत व्यापक है, लोगों में कम रह गई है। इसकी गोपनीयता को संयम और सदाचार का नियम न मानकर अबाध वासना-तृप्ति के कवच के रूप में ग्रहण होने लगा है। इस तथाकथित विकृत सदाचार से ऊबे हुए कवि की वाणी इन शब्दों में निकल पड़ी है—

> धिक रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुम्बन
> अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर ?
> मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन
> तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से, कायर !
> क्या क्षुद्र गुह्य ही बना रहेगा, बुद्धिमान !
> नर नारी का स्वाभाविक, स्वर्गिक आकर्षण ?
>
> —पंत

पर इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि यूरोपीय देशों की भाँति चुम्बन-आलिंगन का खुला व्यापार यहाँ भी होने लगे। उच्छृङ्खलता अथवा ऐसी स्वतन्त्रता जो अपने सामाजिक आदर्शों का अतिक्रमण कर दूसरों की अनुकृति पर अपना प्रेम-व्यापार चलाने का मार्ग तैयार करती है, हमारी संस्कृति के लिए अत्यंत घातक है। स्वतन्त्रता का तात्पर्य निर्बन्ध होकर संयम से हीन होना नहीं है।

सामयिक समस्याओं के प्रति जागरूक रहना प्रगतिवाद की सबसे बड़ी विशेषता प्रतीत होती है। आजकल नवीन कवियों ने सामयिक विषयों पर अनेक रचनाएँ की हैं। गत महायुद्ध, महँगी

बंगाल का अकाल, हिंदू-मुस्लिम समस्या, इन सभी विषयों पर प्रगतिवादी रचनाएँ हुई हैं, पर यह कहना ही पड़ता है कि इन सब का महत्त्व एकदम सामयिक है और काव्य-कोटि की कृतियाँ इनमें बहुत ही कम हैं। कुछ सामयिक रचनाओं का परिचय यहाँ दिया जाता है।

गत महायुद्ध की लपटों में जब सारा संसार जल रहा था, चारों ओर विशाल नरमेध का दृश्य उपस्थित था, हमारा देश पराधीनता, दीनता और क्षुधा से त्रस्त था तब नवीन कवियों ने इस भीषण परिस्थिति पर विचार किया और उन्हें प्रतीत हुआ कि ऐसे समय में वीणा की मधुर झंकार और कोमल भावों की रागिनी अनपेक्षित वस्तुएँ हैं—

> गरज रही हुंकार, हो रहा घर घर हाहाकार,
> कौन सुनेगा यहाँ हमारी वीणा की झंकार?
> शतशः योजन शस्य-श्यामला पृथिवी के निरुपाय,
> शतशः अरुद्ध सभ्यता के पददलित आज असहाय,
> यहाँ क्षुधा का देश; दासता, विग्रह का आगार;
> कौन सुनेगा यहाँ हमारी वीणा की झंकार?
>
> —नरेन्द्र

युद्ध के समय रूस पर प्रगतिवादियों की दृष्टि अधिक टिकती थी क्योंकि उसी की जय-पराजय पर इन्हें मानव समाज का भाग्य निर्भर दिखाई देता था। रूस पर अनेक रचनाएँ हुईं। यहाँतक कि 'अजेय खँडहर' नाम का एक खण्डकाव्य ही उस पर प्रकाशित हुआ। एकबार जब मास्को शत्रु से घिर गया था और उसकी स्थिति चिन्तनीय हो गई थी तब रूसको सम्बोधित करके अनेक आशावादी गीत लिखे गए। 'मास्को अब भी दूर है' ऐसी रचना का अच्छा उदाहरण है—

ऐसा वैसा दुर्ग नहीं यह मजलूमों का प्यारा।
यह इस युग के संघर्षों का सबसे प्रबल प्रतीक है।
लाल फौज ने लाल खून से आज बनाई लीक है।
इस जागृति के स्वर में जन-जन कण-कण आज शरीक है।
दस हफ्ते दस साल बन गए, मास्को अब भी दूर है।

—शिवमंगल सिंह 'सुमन'

बङ्गाल के अकाल की स्थिति बड़ी करुणाजनक थी। इस विषय पर अनेक प्रकार की रचनाएँ हुईं। किसी में अकाल के कारणों की ओर संकेत किया गया, चोरबाजार और उसके संचालकों के प्रति रोष-प्रदर्शन हुआ; किसी में बंगाल की शस्यश्यामला भूमि के गौरव का गान और किसी में वहाँ की दारुण दशा का चित्रण किया गया। तत्कालीन दशा का एक विवरण इस प्रकार है—

बाप बेटा बेचता है।
भूख से बेहाल होकर
धर्म धीरज, प्राण खोकर
हो रही अनरीति बर्बर
राष्ट्र सारा देखता है।
बाप बेटा बेचता है।
माँ अचेतन हो रही है
मूर्च्छना में रो रही है
दाम के निर्मम चरण पर
प्रेम माथा टेकता है।
बाप बेटा बेचता है।
शर्म से आँखें न उठतीं
रोष से छाती धधकती,
और अपनी दासता का

शूल उर को छेदता है।
बाप बेटा बेचता है।

—केदारनाथ अग्रवाल

इन विविध विषयों का प्रगतिवादी काव्य के भीतर किस प्रकार ग्रहण होता है और सामयिक परिस्थितियों पर बराबर सतर्क दृष्टि रखते हुए कवि किस प्रकार अपनी रचनाओं में बराबर सामाजिकता लाने का उद्योग करते हैं यह स्पष्ट हो गया होगा। सभी विषयों का समावेश इस अध्याय में किया भी नहीं जा सकता पर जिन प्रमुख विषयों के उदाहरण दिए गए हैं उनसे यह ज्ञात हो जाएगा कि विषयों के चुनने में और उनकी अभिव्यक्ति में प्रगतिवादी कवि किन भावनाओं से प्रेरित रहते हैं। वर्ग संघर्ष को उत्तेजना देने वाले विभिन्न वर्गों और उनकी मनोदशाओं का चित्रण करने वाली नए ढंग की रचनाओं के अतिरिक्त जिन पुराने विषयों—जैसे प्रेम, प्रकृति आदि—को इन्होंने लिया है उनकी अभिव्यक्ति भी नए जीवन दर्शन के अनुसार हुई।

प्रगतिवाद की प्रवृत्तियाँ

पिछले अध्याय में प्रगतिवादी काव्य की विषयवस्तु पर विचार किया गया है, अब यहाँ उसके भीतर लक्षित होने वाली प्रमुख प्रवृत्तियों पर भी विचार कर लेना चाहिए। सामयिक गतिविधि का निरीक्षण करने पर प्रगतिवादी काव्य की निम्नलिखित विशिष्ट प्रवृत्तियाँ निर्दिष्ट की जा सकती हैं—

(१) स्वतंत्रता की भावना और अंतर्राष्ट्रीयता
(२) परिवर्तन की पुकार
(३) समाजवादी यथार्थवाद
(४) सामयिक समस्याओं के प्रति जागरुकता
(५) काव्य के विषय में अति सामान्य धारणा
(६) बौद्धिकता और व्यंग का प्रसार

इन सब पर अलग अलग विचार करने के पहले इस नवीन काव्य-धारा की एक बहुत बड़ी विशेषता का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत

होता है, जो पूर्ववर्ती 'छायावाद' के तो कुछ प्रतिकूल है, पर काव्य की यथोचित स्वरूप-प्रतिष्ठा के लिए बहुत ही उपयुक्त है। नवीन कवियों ने यह भली भाँति समझ लिया है कि व्यक्त जगत् के नाना रूपात्मक दृश्यों का चित्रोपम विधान भावाभिव्यंजन की पुष्टि के लिए आवश्यक है। 'रूप ही भाव का मूल है' उसी के प्रति सच्चा भावोद्रेक हो सकता है। 'सुमन के प्रति' में कवि कहता है—

> **भाव रूप पर निर्भर।**
> **मैं अवाक हूँ तुम्हें देखकर**
> **मौन रूप धर!**
> **रूप नहीं है नश्वर—!**
> **सत्ता का वह पूर्ण, प्रकृत स्वर,**
> **सुन्दर है वह···अमर!**

—पंत

अब ऊपर निर्दिष्ट की गई एक-एक प्रवृत्ति को लेकर विचार करता हूँ।

स्वतन्त्रता की भावना और अन्तर्राष्ट्रीयता

हम पहले अध्याय में यह देख आए हैं कि स्वतन्त्रता की भावना हिन्दी काव्य में किस प्रकार भारतेन्दु युग से पल्लवित होती हुई वर्तमान युग तक पहुँची है। विभिन्न कालों में यह भावना विभिन्न रूपों में प्रकट हुई। यदि वर्तमान समय तक की परिस्थितियों पर दृष्टि डालते हुए विचार किया जाय तो स्वतन्त्रता के कई रूप दिखाई देंगे। सबसे पहला रूप है राष्ट्रीय स्वतन्त्रता। किसी विदेशी सत्ता से मुक्त करके देश को स्वाधीन बनाने की भावना हिंदी साहित्य के आदि काल में ही काव्य क्षेत्र के भीतर दिखलाई देती है। जब कोई विदेशी राज सत्ता भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा करे तो यह स्वाभाविक ही है कि यहाँ के निवासियों के मन में देश की स्वतंत्रता

बनाए रखने की दुर्दमनीय इच्छा जगे। पर प्राचीन काल में देश अनेक खण्ड-राज्यों में विभक्त था और बृहत्तर भारतवर्ष की कल्पना उस समय नहीं थी। छोटे-छोटे राज्य अलग-अलग अपनी स्वतंत्रता अक्षुण्ण बनाए रखना चाहते थे। पर मूलतः उनकी स्वातंत्र्य भावना इसी कोटि की कही जाएगी। यही भावना क्रमशः विकसित होती हुई भारतदु युग और फिर उसके बाद अंगरेजों के चले जाने के पूर्व तक चली आई। क्रमशः बृहत्तर भारतवर्ष की कल्पना लोगों के मन में आती गई और भारतेंदु युग तक आते-आते उसका बहुत अच्छा रूप काव्य क्षेत्र के भीतर प्रकट हुआ। भावोत्कर्ष और कल्पना सौष्ठव की दृष्टि से आधुनिक राष्ट्रीय आंदोलन काल में लिखी गई राष्ट्रीय कविताएँ बहुत मार्मिक हुई हैं। राष्ट्रीय भावना उद्‌बुद्ध करने के लिए कवियों ने विभिन्न प्रणालियाँ अपनाई—अतीत की सुख समृद्धि, वर्तमान का दुःख-दारिद्रय, अंगरेज शासकों की निष्ठुर स्वार्थपरता आदि के वर्णन और मातृभूमि के प्रति अपने प्रेम और भक्ति के उद्‌गारों द्वारा उन्होंने राष्ट्रीय स्वतंत्रता की भावना व्यंजित की।

देश यदि स्वतंत्र हो, वह किसी विदेशी सत्ता के अधीन न हो तो भी स्वतंत्रता की भावना जनता में और साहित्य में प्रकट हो सकती है पर दूसरे रूप में। राजा की स्वेच्छाचरिता अथवा राजवर्ग के निर्बाध अधिकारों के विरुद्ध भी जनता अपने अधिकारों की माँग कर सकती है। इसे वैधानिक या राजनीतिक स्वतंत्रता की कामना कह सकते हैं। कभी कभी विदेशी शासन के रहते भी, प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण, उसे बनाए रखते हुए भी कुछ वैधानिक स्वतन्त्रता की माँग की जा सकती है, जैसे कांग्रेस आंदोलन के आरम्भ में। तत्कालीन साहित्य में इसका स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

यह सब तो सामूहिक स्वतन्त्रता की भावना की बात हुई पर समाज में रहते हुए भी व्यक्ति की एक अपनी इकाई है। वह अपनी इच्छा के

अनुसार सोचने, कहने और करने की स्वतंत्रता चाहता है। वह चाहता है कि अपनी रुचि के अनुसार वह किसी धर्म में रहे, ईश्वर के किसी विशेष रूप को मानने या न माने, पूजा करे या न करे। अकारण किसी दूसरे व्यक्ति की इच्छा या अनिच्छा के फलस्वरूप उसे कोई बंदी न बनाए, उसे अपना मनोनुकूल कार्य व्यापार करने की सुविधा हो। अवश्य ही यह व्यक्तिगत स्वतंत्रता की भावना समाज के अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता में बाधक नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार की व्यक्तिगत स्वतंत्रता की भावना स्वभावतः हिंदी साहित्य में भी किसी न किसी रूप में बराबर मिलती है, यहाँ तक कि रीतिकाल में भी—रीतिमुक्त स्वच्छंद काव्यधारा के बीच।

आधुनिक काल में, इन तीन तरह की स्वातंत्र्य भावनाओं के साथ एक और जुट गई है—आर्थिक स्वतंत्रता की भावना। यह अर्थप्रधान आधुनिक युग की देन है। आज बहुसंख्यक लोग यातनापूर्ण दरिद्रता में पड़े हुए हैं। उन्हें बहुत अधिक श्रम करना पड़ता है, वे अत्यन्त हीन परिस्थितियों के बीच जीवन यापन कर रहे हैं। इस प्रकार के कष्ट सहने के लिए कोई कानून उन्हें बाध्य नहीं करता। वे ऐसी स्थिति में रहना भी नहीं चाहते, पर अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होने से इस अवस्था में पड़े रहने को वे विवश हैं। वे दरिद्र हैं इसलिए सुख पूर्वक नहीं रह सकते। उन्हें आर्थिक स्वतंत्रता नहीं है। नियमानुसार उन्हें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त है, वैधानिक रूप से वे स्वतन्त्र हैं और अपनी रुचि के अनुसार जीवन यापन करने के लिए उन्हें स्वतन्त्रता है पर आर्थिक स्वतंत्रता उन्हें नहीं प्राप्त है। प्रगतिवादी कविता में इस प्रकार की स्वतंत्रता की कामना का स्वर सब से तीव्र है।

आर्थिक स्वतंत्रता समाज के सुख के लिए आवश्यक है, इस बात की चेतना पुराने कवियों में न हो, ऐसी बात नहीं। तुलसीदास यह अच्छी तरह जानते थे कि 'दारिद सम दुख यहि जग नाहीं'।

भारतेंदु को इस बात की भारी चिंता थी कि 'धन बिदेस चलि जात'। पर इन कवियों की यह भावना किसी सुनिश्चित विचार-पद्धति पर नहीं खड़ी थी। मशीन युग ने आर्थिक वैषम्य को तीव्रतर बना दिया है और मार्क्स जैसे विचारक ने समाज के विकासक्रम में आर्थिक आधार को प्रमुखता दी है। बिना आर्थिक वैषम्य को दूर किए समाज का कल्याण नहीं। प्रगतिवादी कवि भी इस आर्थिक स्वतन्त्रता को प्राप्त करने में ही पूर्ण सचेष्ट है। उसकी धारणा है कि 'इस दुनिया में दो दुनिया है'—एक गरीब की और दूसरी अमीर की, एक शोषित की और दूसरी शोषक की। इस वैषम्य को मिटाए बिना और वर्गहीन समाज स्थापित कर आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त किये बिना समाज का कल्याण नहीं हो सकता। इन्हीं भावनाओं से परिचालित होकर प्रगतिवादी कवि आर्थिक स्वतन्त्रता की भावना की तीव्र व्यंजना अपनी रचनाओं द्वारा करते हैं। उनकी स्वातन्त्र्य भावना मुख्यतः आर्थिक स्वतन्त्रता की भावना है। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि इन कवियों की सभी सामाजिक रचनाओं की मूल प्रेरणा आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने की कामना ही है।

संपूर्ण विश्व को शोषक और शोषित वर्ग में बाँट देने से प्रगतिवादी कवि अंतर्राष्ट्रीयता की ओर अधिक उन्मुख है। यहाँ अंतर्राष्ट्रीयता का तात्पर्य विश्व के संपूर्ण दलित वर्ग के प्रति समानुभूति ही है।

निम्नवर्ग के जीवन में जो हाहाकार है, व्यथा है, वह सभी देशों में एक सी है। सभी देशों के श्रमिक प्रायः एक ही प्रकार के आर्थिक वैषम्य की ज्वाला में झुलस रहे हैं, और इतनी व्यापक पीड़ा का सृजन करनेवाली व्यवस्था भी सभी स्थानों में प्रायः एक प्रकार की ही है। इस प्रकार प्रगतिवादी कवि के अनुसार सारे विश्व में पूँजीवादी अर्थनीति से प्रताड़ित निम्न वर्ग का एक विशाल समुदाय निर्मित हो गया है। इन सबमें एकता स्थापित करके वर्तमान आर्थिक प्रणाली के विरुद्ध संघटन करने में सहायता देना और

नवीन साम्यवादी व्यवस्था स्थापित करने में सहायक होना प्रगतिवादी का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए। इन्हीं मजदूरों और दीनजनों की सार्वदेशिक प्रगति में योग देना प्रगतिवादी कवि का मुख्य लक्ष्य माना जाता है। जीवन की वर्तमान असंगतियों का उपचार रूस के आदर्शों पर ही ये लोग श्रेयस्कर समझते हैं; अतः रूस के प्रति अनेक रचनाएँ हुईं।

बहुत से साहित्यिक प्रगतिवादी कविताओं के भीतर रूस की पुनः पुनः चर्चा देखकर असन्तोष प्रकट करते हैं। उनका यह आक्षेप तथ्यहीन नहीं है। आजकल की परिस्थिति में रूसी वीरों की दृढ़ता और देशभक्ति तथा कर्तव्यशीलता की ओर हम अवश्य आकृष्ट हो सकते हैं। उनके जीवन की कतिपय वे मंगलकारी व्यवस्थाएँ जो हमारे समाज के अनुकूल पड़ती हों, कुछ अंशों तक हमें ग्राह्य भी हो सकती हैं। पर आजकल की अनेक प्रगतिवादी रचनाओं में बात यहीं तक नहीं है। रूस का आधार लेकर, वहाँ की व्यवस्था, वहाँ के श्रमिकों आदि पर दो-चार रचनाएँ करके कुछ लोग कविता के अखाड़े में ताल ठोंककर उतरते दिखाई देने लगे हैं। जब कविता जीवन की वस्तु है तब भारत की कविता पहले भारत के लिए होकर तब दूसरों के लिए होगी। इसके अतिरिक्त यह भी तो विचार करना चाहिए कि जब रूस और अन्य देशों में वीर और महान् विचारक हो रहे हैं तब हमारे यहाँ भी अपनी परिस्थितियों का अध्ययन कर समाज की उन्नति का प्रयत्न अपने ढङ्ग से क्यों न किया जाय। परमुखापेक्षिता आखिर कब तक भारत के भाग्य में लिखी रहेगी?

वर्तमान काव्यक्षेत्र परिवर्तन की कामना से भरा दिखाई देता है। समाज की बहुत सी बातों में परिवर्तन की आवश्यकता युग-

परिवर्तन की पुकार

चेतना ने स्पष्ट ही प्रकट कर दी है, इसमें संदेह नहीं। पर सदा सभी स्थानों में, परिवर्तन की

आकांक्षा प्रदर्शित करना केवल फैशन ही है। काव्य की दृष्टि से यह पुकार क्या महत्व रखती है, किस भाव का संचार करने में सहायक होती है, इसकी ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है।

अतीत की सभी कृतियों और व्यवस्थाओं को ध्वस्त कर देने की इच्छा बिलकुल अस्वाभाविक और भावों के क्षेत्र साहित्य में व्यर्थ का प्रलाप ही समझी जायगी। 'प्राचीन' के प्रति विद्रोह करने और 'नवीन' के प्रति सदा लालायित रहनेवालों के लिए लेनिन के ये वाक्य द्रष्टव्य हैं—'जो कुछ सुन्दर है उसे सुरक्षित रखकर आदर्शरूप में ग्रहण करना चाहिए, चाहे वह पुराना ही क्यों न हो। केवल इसलिए कि कोई वस्तु पुरानी है, हम क्यों उससे अलग हट जायँ और आगे के विकास के लिए उससे सहायता न लें। ऐसे देवता के समान जिसके सामने आत्म-समर्पण करना ही होगा, हम नवीनता के सम्मुख क्यों घुटने टेकें; केवल इसलिए कि वह नवीन है। यह निरर्थक है, बिलकुल निरर्थक। कला के क्षेत्र में वस्तुतः यह पाखंड ही है और पश्चिम में फैले हुए कलागत फैशन को अनजान में माथा टेकना है।'

समाजवादी यथार्थवाद

समाजवादी यथार्थवाद साहित्य का आधार आर्थिक मानता है। जिस प्रकार समाज, संस्कृति तथा अन्य मानवीय कार्य या विचारप्रणालियों का मूल आधार समाज का आर्थिक विकासक्रम है उसी प्रकार साहित्य का भी। समाजवादी यथार्थवाद का मुख्य उद्देश्य है पूँजीवाद का नाश और समाजवाद की विजय में योग देना। इसके लिए आवश्यक है कि लेखक 'यथार्थ के क्रांतिकारी पहलू' को पहचाने और यथार्थ की सतह के नीचे काम करने वाली समाज की 'क्रांतिकारी शक्तियों' को पहचान कर जीवन के उत्थान मूलक यथार्थ का चित्रण करे। यथार्थ का क्रांतिकारी पहलू समाज की वे शक्तियाँ हैं जो समाज को आमूल परिवर्तित कर आर्थिक समानता के लिए सभी को समान अवसर प्रदान करने और वर्गहीन

समाज की स्थापना करने का उद्योग कर रही हैं। यदि कोई लेखक या कवि समाज के निम्नवर्ग की भयंकर यातनाओं से भरी स्थिति का चित्रण मात्र कर देता है—वह अपनी रचना में उनकी दयनीय बस्तियों, उनकी क्षुधातुरता, उनकी अनेकानेक कष्ट गाथाओं को अभिव्यक्त करता है, अथवा अल्पसंख्यक पूँजीपतियों की विलासिता और अकर्मण्यता आदि को ही दरसाता है तो वह सच्चा यथार्थवादी नहीं हैं क्यों कि इस प्रकार वह जीवन के एक पक्ष का ही उद्घाटन करता है जो निष्क्रिय और निराशापूर्ण है। परंतु जो कवि 'यथार्थ के क्रांतिकारी पहलू' को पहचान कर समाज के भीतर काम करने वाली उन समाजवादी शक्तियों के द्वारा बढ़ते हुए आंदोलनों का उल्लेख करके पूँजीवाद के नाश और निम्नवर्ग की विजय में पूरी आस्था व्यक्त करता हैं वह सच्चा समाजवादी यथार्थ चित्रित करता है। सोवियत संघ और अंतर्राष्ट्रीय मजदूर आंदोलन की बढ़ती हुई शक्ति से परिचित होने और उसमें पूरा विश्वास रखने से ही वह वर्तमान समाज की प्रगतिमूलक शक्ति का वास्तविक अनुमान कर सकता है। एडवर्ड अपवर्ड के शब्दों में "आर्थिक संकट, बेकारी, फासिज्म का विकास और दूसरे विश्वव्यापी युद्ध की आशंका--इन बातों को प्रायः सभी यथार्थ और महत्त्वपूर्ण मानते हैं······यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति के प्रबल पक्ष—सोवियत संघ और अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक आंदोलन की प्रगति—की अक्सर अवमानना की जाती है, जिसके फलस्वरूप बुनियादी यथार्थ विकृत हो जाते हैं।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाजवादी यथार्थवाद पहले समाजवादी है और तब यथार्थवादी। वह यथार्थ को समाजवादी दृष्टि से देखता है। वह प्रकृतिवादियों (नेचुरलिस्ट) की तरह संपूर्ण बाह्य जगत को ज्यों का त्यों स्वीकार करके जीवन की ऊपरी सतह पर दिखलाई देने वाली स्थूल व्यवस्थाओं को चित्रित मात्र नहीं करता बल्कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर जीवन और जगत की परिस्थितियों का विश्लेषण करके समाज

के भीतर छिपी भविष्य की नियामक शक्तियों की अभिव्यक्ति करने वाली सामाजिक परिस्थियों का चित्रण करता है।

अब यह देखना चाहिए कि यथार्थवाद की साहित्यिक धारणा वास्तव में हो क्या सकती है। किसी वस्तु को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेना यथार्थ का चित्रण कहलाएगा पर कवि फोटोग्राफर नहीं होता, वह निर्माता है। वह वस्तुजगत के सत्य को ज्यों का त्यों नहीं चित्रित करता बल्कि अपनी व्यक्तिगत रुचि के अनुसार वस्तु जगत के दृश्यों को फिर से एक नए अनुक्रम में सजाता है। उसका यह संश्लेपण उसकी अपनी अनुभूतियों, रुचियों और मानसिक अवस्था के अनुसार होता है। यही कारण है कि एक ही वस्तु का चित्रण भिन्न भिन्न कवि भिन्न भिन्न ढंग से करते हैं। इस प्रकार वस्तु जगत के सत्य और भाव जगत के सत्य में अंतर दिखाई देता है। काव्य भाव जगत का ही सत्य चित्रित करता है। पर यदि वह किन्हीं बने बनाए नियमों के अनुसार जगत की बाह्य परिस्थितियों को नाप तौल कर और ठोंक पीट कर अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करता है तो यह बहुत ही स्थूल, एकदम एकांगी और असंवेद्य होगा। उसके लिए बंधन इतना ही लगाया जा सकता है कि वह सामाजिक हो और सामान्य अनुभूतियों के मेल में यथार्थ का अंकन करे। यदि वह सामाजिक है तो निश्चय ही जीवन और जगत को वह विश्लेपणात्मक दृष्टि से देखेगा और समाज के हित को ध्यान में रखकर बाह्य परिस्थितियों का पर्य्यालोचन करेगा।

समाजवाद के अनुसार जीवन की विभिन्न कार्य और विचार-प्रणालियों का मूल आधार आर्थिक है। समाज का बहुसंख्यक भाग थोड़े से धनाढ्यों के द्वारा शोषित हो रहा है। अब तटस्थ पर्य्यवेक्षण कराने वाले लेखकों में से भी अधिकांश लेखक वर्त्तमान स्थिति में इस बात को बहुत कुछ सही मानते हैं। व्यक्तिगत रूप से उनके राजनीतिक विचार चाहे जो भी हों पर वर्तमान समय में अर्थ की प्रधानता और शोषक वर्ग की स्वार्थलोलुपता के प्रश्न पर सभी में मतैक्य हो सकता है। बालजक,

फ्लाबर्ट, इलिएट और लारेंस में से कोई रायलिस्ट है, कोई पैसिफिस्ट है और कोई कैथोलिक, पर समाज का इन्होंने जैसा चित्रण किया है वह यथार्थ है। यही स्थिति हिंदी में अज्ञेय, दिनकर आदि की भी है जिनकी राजनीतिक विचारधारा साम्यवादी नहीं है पर इन्होंने अपनी अनेक रचनाओं में समाज की परिस्थितियोंका जो चित्रण किया है वह यथार्थ है और इन परिस्थितियों का विश्लेषण भी सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पर क्या इन लेखकों के साम्यवादी या समाजवादी न होने से इन्हें सच्चा यथार्थवादी साहित्यकार नहीं कहा जा सकता? मार्क्सवादी आलोचकों के अनुसार स्पष्ट है कि जो मार्क्सवाद को नहीं मानता वह सच्चा यथार्थवादी नहीं हो सकता। काडवेल का तो यहाँ तक कहना है कि लेखकों के लिए मार्क्सवादी ही होना जरूरी नहीं है बल्कि वर्ग-संघर्ष में उसे सक्रिय भाग भी लेना चाहिए। किसी न किसी रूप में मार्क्सवादी प्रवृत्ति का दिग्दर्शन कराना लेखक के लिए आवश्यक है, तभी वह सच्चा यथार्थवादी हो सकता है। काडवेल, बुखारिन, राडेक, एलिक वेस्ट, राल्फफाक्स—सभी किसी न किसी रूप में इन बातों को स्पष्टतया स्वीकार करते हैं।

पर क्या पहले के किसी भी महान लेखक के विषय में यह कहा जा सकता है कि ऊपर निर्दिष्ट की हुई सीमा में न आने से वे उच्चकोटि के कवि और लेखक नहीं है? शेक्सपियर और बालजक क्यों रूस में आज इतने अधिक लोकप्रिय होते जा रहे हैं? क्या किसी राजनीतिक या अन्य संप्रदाय के होने या न होने से उनकी साहित्यिक महत्ता पर कोई प्रभाव पड़ा? मार्क्स स्वयं अपने साहित्यिक मूल्यांकनों में किसी प्रकार के राजनीतिक या सामाजिक पूर्वाग्रहों में मुक्त रहता था। शेक्सपियर उसका प्रिय नाटककार था। बालजक के राजनीतिक सिद्धांत प्रतिक्रियावादी थे—वह राजसत्ता और कैथोलिसिज्म को मानने वाला था फिर भी उसकी रचनाएँ सामाजिक दृष्टि से भी उच्चकोटि की हैं और तत्कालीन

परिस्थितियों का उसने जो विश्लेषण किया, वे भी ठीक हैं और रूस के अनेक आलोचकों ने इस दृष्टि से उसकी बहुत प्रशंसा की है। उसका प्रचार रूस में बहुत अधिक है।

एंगेल्स की धारणा इस विषय में बहुत स्पष्ट है। उसने कहा है कि "लेखक के (राजनीतिक) विचार जितने ही छिपे हों, कलाकृति के लिए उतना ही अच्छा है।" फिर बालजक का उदाहरण देते हुए उसने यह बतलाया है कि लेखक के विचार चाहे जो हों फिर भी उसकी रचनाओं में यथार्थवाद की स्पष्ट अभिव्यक्ति हो सकती है। इतना ही नहीं उसने स्पष्टतया यह भी कहा है कि 'मेरे विचार से (किसी रचना में चित्रित) परिस्थिति और कार्य के द्वारा (लेखक का) उद्देश्य व्यक्त होना चाहिए—बिना विशेष रूप से जोर दिए। लेखक इस बात के लिए विवश नहीं है कि वह जिन सामाजिक संघर्षों का चित्रण कर रहा है उनका कोई बना बनाया भावी समाधान भी दे।' स्वयं मार्क्स ने भी यह कहा है कि रचना में लेखक के सिद्धांत प्रच्छन्न रूप से आने चाहिए।

पर आजकल के मार्क्सवादी व्याख्याकारों के अनुसार 'यथार्थ के क्रांतिकारी पहलू' का चित्रण हुए बिना समाजवादी यथार्थवाद की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। यही कारण है कि काडवेल, शा और गाल्स-वर्दी आदि को सच्चा यथार्थवादी नहीं मानता क्यों कि उसके अनुसार यद्यपि अभिजात वर्ग की संस्कृति के मायाजाल और भ्रम को इन लेखकों ने समझ लिया था पर मार्क्सीय दृष्टि न होने से ये भविष्य की कोई अच्छी कल्पना न कर सके। वर्तमान असंगतियों को मार्क्सीय पद्धति पर ही दूर किया जा सकता है।

शा और गाल्सवर्दी जैसे लेखकों ने मध्यवर्ग की ढलती हुई अवस्था का बहुत ही मार्मिक और यथार्थ चित्रण किया है, इसे काडवेल भी मानता है पर उसके अनुसार इन लेखकों के मार्क्सवादी न होने से इनके सब किये कराये पर पानी फिर गया! इसका अर्थ तो यह हुआ कि

सबसे पहले मार्क्सवादी होना ही जरूरी है। अन्य विचारों वाले लेखकों की रचनाओं में मध्यवर्ग की वर्तमान पतनोन्मुख अवस्था का ठीक विश्लेषण देखते हुए भी मार्क्सवादी की दृष्टि में वे उच्चकोटि की नहीं हैं क्योंकि भविष्य का समाधान (मार्क्सीय ढंग से) उनमें नहीं है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि किसी साहित्यिक कृति का महत्त्व लेखक के स्वानुभूत तथ्यों के मार्मिक उद्घाटन और सामाजिक अवनति के कारणों की संवेद्य विवेचना पर निर्भर करता है या उसके राजनीतिक कार्यों और विचारों पर। काडवेल तो लेखक के लिए राजनीतिक कार्यकर्ता होना भी आवश्यक मानता था और इसी दृष्टि से वह स्वयं स्पेन में युद्ध करने भी गया, जहाँ वह मारा गया। पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्वयं मार्क्स और ऐंगेल्स ने इस बात की स्पष्ट घोषणा की है कि लेखक के राजनीतिक विचार कभी खुले रूप में व्यक्त न होने चाहिए। वास्तव में लेखक संवेदनशील प्राणी है और स्व-अर्जित अनुभूतियों पर ही उसकी रचना का ढाँचा खड़ा होता है इसलिए किसी सैद्धांतिक मतवाद में बँधकर वह कभी नहीं रह सकता। उसका स्व या अहं सामाजिक होता है। वह पूर्णतः वैयक्तिक नहीं होता क्योंकि ऐसा होने पर वह पर-संवेद्य नहीं हो सकता था। कवि या लेखक का अहं बहुत कुछ अचेतन मन से बना है और जैसा प्रायः कहा जाता है, अचेतन मन पूर्णतः वैयक्तिक वस्तु नहीं है वरन् वह हमारे भावों और विचारों का सामूहिक आधार प्रस्तुत करने वाला है। अतः उसकी संवेदनाओं को किसी नियम में बाँध देना उसकी नैसर्गिकता नष्ट कर देना है। सत्य के बदलते हुए रूपों को ग्रहण करने के लिए प्रयत्नशील कवि किसी संप्रदाय के स्थिर नियम और नीति में बँध नहीं सकता।

कवि वर्त्तमान समस्याओं का ठोस समाधान नहीं दे सकता। यह उसका कार्य ही नहीं है। वर्त्तमान परिस्थिति का वास्तविक चित्रण और उसकी साहित्यिक व्याख्या या विश्लेषण ही वह कर सकता हैने, उसे बदल

का साधन काव्य के द्वारा प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। कवि के व्यक्त विचार समाज के विषय में उसकी स्वतंत्र धारणा से ही उद्भूत हो सकते हैं। अवश्य ही उस धारणा का आधार उसका समाज-सापेक्ष उचित विश्लेषण होगा। स्टेफेन स्पेंडर के शब्दों में—"जब तक कम्यूनिस्ट यह स्वीकार नहीं करते कि एकदम दूसरे क्षेत्रों से आने वाले लेखक भी कभी कभी सत्य के विषय में ठीक ठीक बातें कहने की क्षमता रखते हैं तब तक मार्क्सवादी आलोचना अपने को केवल यह सिद्ध करने में सीमित कर लेती है कि जिन लेखकों ने कभी कम्यूनिस्ट होने का दम नहीं भरा वे कम्यूनिस्ट नहीं हैं!······वह सभी मार्क्सवादी आलोचना जो लेखकों को उनके घोषित राजनीतिक मतों के द्वारा परखती है या उनके घोषित राजनीतिक मत पर जोर देती है, अपने सबसे अच्छे रूप में अव्यवस्थित और अधकचरी होती है और अपने सबसे बुरे रूप में विध्वंसात्मक। भूतकाल के महान यथार्थवादियों की मार्मिक रचनाओं और यथार्थवादी परंपरा के बाहर लिखने वाले समसामयिक लेखकों, जिन्होंने समाज के विषय में महत्व-पूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया है, के अध्ययन से अधकचरी राजनीतिक आलोचना की अपेक्षा किसी अच्छी आलोचना पद्धति पर पहुँचना संभव होना चाहिए।"

यह तो कहा जा सकता है कि जीवन और जगत को देखने के लिए मार्क्सवादी दृष्टिकोण एक गंभीर दृष्टिकोण है पर यह एक दर्शन है; और भी दूसरे दर्शन हो सकते हैं। जिस प्रकार कोई समर्थ लेखक मार्क्सवादी हो कर अच्छा लिख सकता है, सच्चा यथार्थ अपनी रचनाओं द्वारा प्रस्तुत कर सकता है उसी प्रकार किसी दूसरे विचार का लेखक भी समाज का सच्चा और मार्मिक रूप प्रस्तुत कर सकता है। फिर किसी लेखक के लिए यह आवश्यक क्यों कि वह मार्क्सवादी या समाजवादी अवश्य ही हो। मार्क्सवादी भी यह स्वीकार करते हैं कि सत्य के विषय में अंतिम बात नहीं कही जा सकती। यथार्थ के आभासित रूप में परिस्थिति, व्यक्ति, नवअर्जित ज्ञान और काल के अनुसार वैभिन्न्य

हुआ करता है तो फिर मार्क्सीय या किसी अन्य दृष्टिकोण को ही अंतिम वास्तविक दृष्टिकोण स्वीकार करने के लिए लेखक को क्यों विवश किया जाय।

मार्क्सीय दृष्टि अपना लेने पर लेखक के सामने और भी कई बातें आती हैं। अतीतकाल का साहित्य उच्च वर्ग के लोगों का था और उन्होंने इसके द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि की, अतः आज के यथार्थवादी लेखक को भी सर्वहारा वर्ग के अस्त्र के रूप में उसका प्रयोग करना चाहिए। यदि कोई थोड़ी देर के लिए यह मान भी ले कि अतीत में न्यस्त स्वार्थ वाले वर्गों ने साहित्य को अपनी प्रभुता कायम रखने का हथियार बनाया था तो देखना यह चाहिए कि क्या उन्होंने सचेत होकर ऐसा किया था या अनजान में ऐसा अपने आप हो गया। मुझे आशा है कि थोड़ा विचार करने वाले मार्क्सवादी यही कहेंगे कि ऐसा उनसे अनजान में (अनकांशसली) हुआ। पर आज जब साहित्यको •सर्वहारा वर्ग की लड़ाई का हथियार बनाने की बात कही जाती है तब निश्चय ही ऐसा सचेत होकर (कांशसली) करने को कहा जाता है। यह बात बहुत ही स्पष्टरूप में इतनी गलत है कि इस पर हमारा ध्यान तुरंत जाना चाहिए। ऐसा होने पर साहित्य साहित्य न रह कर अस्त्र मात्र रह जाता है यानी विशुद्ध प्रचार। और निश्चय ही काडवेल जैसे मार्क्सवादी लेखकों के निष्कर्ष इसी सर्वहारा वर्ग की नेतागिरी और शुद्ध प्रचारवादी मनोवृत्ति के स्पष्ट द्योतक हैं। कविता में भावसत्य व्यंजित होता है, वह भावमय वस्तु है—यह सब बातें (विस्तृत व्याख्या के समय) कहनी निरर्थक हो जाती है, जब वह व्याख्या हमें ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचा कर छोड़ देती है।

वास्तव में यथार्थवाद के पहिले 'समाजवादी' जोड़ना कुछ बहुत उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि इससे निश्चयपूर्वक एक राजनीतिक मत की प्रधानता व्यक्त होती है। इससे केवल सामान्य सामाजिक भावना

नहीं वरन् एक राजनीतिक मत की पूरी विचार परंपरा व्यक्त होती है। यद्यपि देशकाल के अनुसार हर चीज के बारे में हमारी धारणा में थोड़ा बहुत परिवर्तन होता है पर उसका नाम वही बना रहता है, इसी प्रकार यथार्थवाद केवल यथार्थवाद भी बना रह सकता है या यदि कुछ जोड़ना आवश्यक ही हो तो 'नया' शब्द जोड़ने से भी काम चल सकता है। ऐसा होने पर इस पद की साहित्यिकता शायद पूरी तरह बनी रहती। पर जो नाम चल पड़ा उसे बदलना कठिन होता है, इसलिए साहित्य की दृष्टि से मार्मिकता यदि बनाए रखना अभीष्ट हो तो समाजवादी यथार्थ-वाद की व्याख्या अधिक उदारता और व्यापक दृष्टिकोण से करने की आवश्यकता होगी। कोई भी उच्चकोटि की रचना सोलहआने बाह्यार्थ निरूपिणी नहीं हो सकती, लेखक की अंतर्वृत्ति का प्रभाव उस पर अनिवार्यतः पड़ेगा ही। कविता चाहे किसी 'वाद' की हो पर उसमें इंद्रियानुभूति और कल्पना दोनों का योग होगा। इंद्रियानुभूति ग्रहण करने और कल्पना करने में लेखक के अपने व्यक्तित्व का हाथ बराबर रहेगा। अतः किसी मतवाद से बाहर निकले बिना यथार्थ का वास्तविक और मार्मिक रूप साहित्य के भीतर प्रस्तुत करने में लेखक को बड़ी कठिनाई होगी।

सामयिक समस्याओं के प्रति जागरूकता

सामयिक जीवन की विभिन्न घटनाओं और परिस्थितियों का चित्रण करने में नवीन कवि विशेष प्रवृत्त हैं। काव्य में सामयिक जीवन की ओर यह झुकाव भी भारतेंदु और द्विवेदी युग की ही प्रवृत्ति है पर समकालीनता के प्रति इतनी व्यापक जागरूकता पहले नहीं थी। समाज के प्रति किसी विशेष दृष्टि से आकृष्ट होना और उसकी अवस्था का निरीक्षण करने का ऐसा उपक्रम पहले नहीं हुआ था। जीवन और काव्य को अधिकाधिक घनिष्ठ बनाने की जो चेष्टा हुई उसकी प्रशंसा होनी चाहिए। पर साथ ही इस बातपर ध्यान देना चाहिए कि सामयिक जीवन की व्यंजना,

मनुष्य होने के नाते हमारे लिए जितनी उचित और आवश्यक है उतनी ही जीवन के नित्यस्वरूप की अभिव्यक्ति भी। इसके अतिरिक्त एक बात और है। किसी प्रकार के विशेप मत के अनुसार सामयिक परिस्थितियों को देखने से काव्य का रूप प्रकट नहीं हो सकता क्योंकि उन अवस्थाओं की वास्तविक अनुभूति के बिना सचाई आ ही नहीं सकती। साहित्य और राजनीति दोनों ही मनुष्य की उच्चकोटि की दो कार्यप्रणालियाँ हैं पर साहित्य के भीतर अनेकानेक नीतियों का समाहार हो जाता है क्योंकि जीवन के सभी अङ्गों पर उसकी समान ममता होती है। उसका हृदय विशाल होता है, अतः मनुष्य की सभी कार्यप्रणालियाँ और व्यवस्थाएँ उसके अंतर्गत प्रश्रय पाती हैं। एक ही परिस्थिति में पड़कर राजनीतिज्ञ अपनी नीति निर्धारित करता है और साहित्यकार उसका अनुभव प्राप्त करके रचना करता है। सामने जो परिस्थिति है उसपर ध्यान दोनों ही देते हैं पर दोनों दो प्रकार के प्रभाव ग्रहण करते और दो प्रकार के कार्य करते हैं। साहित्यकार उसका अनुभव कराना चाहता है और राजनीतिज्ञ अपनी नीति के अनुसार विवेचन करके अपने निष्कर्ष उपस्थित करता है। यही अंतर है। अनुभूति का पथ ग्रहण करके सामयिक जीवन की विविध स्थितियों का चित्रण करना साहित्यकार के जीवित रहने का प्रमाण है। युग के प्रति अपने कर्तव्य का पालन है। यह दूसरी बात है कि सामयिकता के अतिरिक्त एक जीवन की अखंड परंपरा भी है जो अपेक्षाकृत सूक्ष्म, युग-युगतक बनी रहने वाली और विशेप महत्वपूर्ण है।

काव्य-विषयक धारणा

कुछ लोग काव्य को वैसा ही समझ लेते हैं जैसा दैनंदिन जीवन का अन्य उपयोगी कार्य। इसके फलस्वरूप काव्यके विषय में अति सामान्य धारणा बन जाती है और वह निश्चित रूप से कुछ विचारों के प्रचार का साधनमात्र बनकर रह जाता है। विभिन्न वसरोंअ पर कामचलाऊ गीत तैयार कर गाने की जो

परंपरा असभ्य औरअशिक्षित जातियों में अब तक चली आती है उससे काव्य का आदर्श नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। शताब्दियों के जीवन-विकास के पश्चात् उस आदिम प्रवृत्ति को सामने लाने का उपदेश देना काव्य के परिष्कृत स्वरूप को मटियामेट करने का ही उपक्रम है। पर इस प्रकार की चर्चा कोई विशेष अर्थ नहीं रखती। जीवन का प्रवाह सहस्रों वर्ष पीछे की ओर मोड़कर नहीं ले जाया जा सकता। इतनी साधना के बाद काव्य को जो संस्कृत रूप मिला है उसकी रक्षा और परिष्कार का ही उद्योग हो सकता है। उसे नीचे की ओर नहीं ढकेला जा सकता।

बौद्धिकता और व्यंग

बौद्धिकता और व्यंग की प्रवृत्ति नवीन काव्यधारा में बढ़ रही है। हिंदी साहित्य में नाटककार श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने बुद्धिवाद का सूत्रपात किया था पर उनकी और वर्तमान कवियों की विचारप्रणालियाँ भिन्न हैं। इस समय बौद्धिकता के तीन रूप काव्य के भीतर दिखाई देते हैं। कुछ रचनाओं में कतिपय विचारमात्र संकलित कर दिए जाते हैं। ये विचार भी एक विशेष राजनीतिक संप्रदाय के ही मतानुकूल होते हैं। कहीं-कहीं अन्य मतों और मतावलंबियों का खंडन और निषेध भी रहता है। खंडन, निषेध और सुधार की इच्छा बौद्धिक स्तर पर पहुँचकर व्यंग का बाना धारण कर लेती है। इस प्रकार के व्यंग का भी प्रवेश प्रगतिवादी काव्यधारा के भीतर हुआ है। प्रथम दो प्रकार की बौद्धिकता तो काव्य की भावात्मिका दृष्टि से फालतू ही ठहरती है क्योंकि अनुभूति पक्ष के अभाव में कविता अपना प्रभाव ही खो बैठती है और उसका वास्तविक लक्ष्य पूर्ण नहीं हो पाता।

बौद्धिक दृष्टि के फलस्वरूप जो व्यंग का अविर्भाव हमारे काव्यक्षेत्र में हुआ है वह अवश्य ही एक नवीन रूप लेकर। पुरानी कविता में यत्रतत्र हास्य और व्यंग का विधान मिलता है, पर अधिकतर कहीं तो उसका उद्देश्य शुद्ध मनोरंजन है और कहीं व्यक्तिगत आक्षेप। पर

नवीन काव्य में सामाजिक सुधार की ही भावना से व्यंग व्यंजित होता है; अंग्रेजी में तो व्यंग की परम्परा चासर से चली आती है और समय-समय पर उसका पूरा विस्तार हुआ है पर हिंदी-काव्य में इसकी कमी रही है। इस ढंग की कविताएँ मस्तिष्क से उद्भूत होकर मस्तिष्क ही पर प्रभाव डालती हैं। पंतजी की 'ग्राम्या' में व्यंगवृत्ति के नवीन उत्थान की पूरी सूचना मिलती है। अन्य कवियों ने भी व्यंगात्मक रचनाएँ की हैं। पर निराला जी के 'कुकुरमुत्ता' संग्रह में तो इस कला का विशद विस्तार दिखाई देता है। इस प्रकार की रचनाओं में कथात्मक प्रसंगों के रहने से अधिक रोचकता और मार्मिकता आती है। सच पूछिए तो यह व्यंग की विशेषता कहानी-उपन्यास के क्षेत्र के लिए अधिक उपयुक्त है। पुराने 'हास' से यह 'व्यंग पृथक् है। 'हास' का लक्ष्य होता है हृदय, उसके द्वारा उल्लास का संचार किया जाता है; पर व्यंग चुटकी लेता है। कभी-कभी हृदय को क्षुब्ध भी कर देता है। 'हास' के प्राचीन आलंबन अधिकतर 'मूर्ख' होते हैं पर व्यंग के विषय प्रायः बुद्धिविशिष्ट अहंवादी, रूढ़िवादी या समाज। इस बुद्धिप्रधान युग में व्यंग का प्रसार काव्य के भीतर भी हो यह स्वाभाविक ही है। इससे यद्यपि काव्य का वास्तविक लक्ष्य—हृदय को पूर्ण प्रभावित करना—तो नहीं पूर्ण होता पर मस्तिष्क चमत्कृत अवश्य होता है। क्षोभ और दुःख प्रकट करने के लिए भी ऐसी रचनाएँ बड़े काम की हैं। सुधार के लिए इनका अच्छा उपयोग हो सकता है। पर अक्षम व्यक्तियों के हाथ में पड़कर, सीमा का उल्लंघन कर, अच्छी वस्तु भी बुरी बन जाती है। अतः संयम और शिष्टता पर बराबर ध्यान रखकर चलने से ही उस उच्छृङ्खलता का पुनः आविर्भाव नहीं हो पाएगा जिससे थोड़े ही दिन पहले कुछ नवीन रचनाएँ ग्रस्त थीं। (व्यंग के रचना-प्रक्रिया संबंधी वैशिष्ट्य के लिए 'कला पक्ष' शीर्षक अध्यायदेखिए)।

कलापक्ष

ज्योतित कर जन मन के जीवन का अंधकार,
तुम खोल सको मानव-उर के निःशब्द द्वार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ?

—पंत

कला और जन-समाज

प्रगतिवादी रचनाएँ सामान्य जनसमूह से संबद्ध हैं। वे 'उन्हीं पर' और 'उन्हीं के लिए' लिखी जाती हैं—कम से कम सिद्धांततः यह माना ही जाता है। जब सामान्य जन के लिए रचनाएँ होनी चाहिए तब यह आवश्यक है कि वे इतनी सरल हों कि सभी उन्हें समझ सकें। इसमें संदेह नहीं कि अभिव्यञ्जना पद्धति और भाषा की दृष्टि से कुछ नवीन रचनाओं में अपेक्षाकृत सरलता अवश्य दिखाई देती है। 'छायावाद' की 'दूरारूढ़ कल्पना' और 'दुरूह कलात्मकता' को छोड़कर वर्तमान रचनाकार सरलता

के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। जो लोग अभिव्यंजना को ही सब कुछ नहीं मानते और चमत्कार के भी विशेष प्रेमी नहीं हैं वे इस नवीन प्रवृत्ति को अवश्य ही उपेक्षणीय नहीं मानते।

प्रगतिवादी कवियों का कहना है कि हम काव्य की आदर्शात्मक सौंदर्य सत्ता को दैनंदिन जीवन की यथार्थ भूमि पर प्रतिष्ठित कर रहे हैं। काव्य का लक्ष्य हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होना भी है और इस पर ध्यान देना वर्तमान कवि की ईमानदारी की पहली शर्त है। ऐसा करने से भाव-सौंदर्य चाहे कम प्रस्फुटित हो पर सामाजिक लाभ कई हैं। पहले की अपेक्षा आज के कवि बौद्धिक रूप से अधिक सजग और राजनीतिक चेतना से सम्पन्न होना अत्यावश्यक बतलाते हैं। इनके अनुसार काव्य भावात्मक वस्तु ही नहीं वरन् मस्तिष्क पर भी वैसा ही अधिकार रखने वाली वस्तु है जैसा कि हृदय पर।

जो हो, जहाँ तक काव्योचित सरलता लाने का प्रश्न है, कतिपय नवीन कवियों का प्रयत्न सराहनीय अवश्य कहा जायगा। यदि अधिकांश लोग अब भी साहित्य-रचना समझ नहीं पाते हैं तो इसमें हमारे देश की अशिक्षा का भी थोड़ा बहुत हाथ है। शिक्षितों की बात तो जाने दीजिए, निरक्षरों के अनुपात में साक्षर ही कितने हैं। अतः कुछ प्रगतिवादियों ने रचना को सुबोध बनाने का जो उद्योग किया है उसकी प्रशंसा होनी चाहिए। पर 'सरलता' साध्य नहीं साधन है। 'सरलता' का अर्थ स्पष्टवाद या शुष्क इतिवृत्तात्मकता काव्य के क्षेत्र में न तो कभी समादृत हुई है और न होगी। सरलता लाने का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि रचनाएँ बिल्कुल नीरस और गद्यात्मक हो जायँ। ऐसी विकृत कृतियों का कोई भी मूल्य नहीं। पद्यात्मक होकर भी वे साहित्य की सम्पत्ति न मानी जा सकेंगी, उन्हें साहित्यिक गद्य भी तो न कह सकेंगे।

शैली की दृष्टि से विचार करने पर वर्तमान काव्य-धारा में तनी

मुख्य प्रणालियाँ दिखाई देती हैं—वर्णनात्मक, उद्बोधनात्मक और विचारात्मक। वर्णनात्मक शैली से हमारा तात्पर्य है

तीन प्रमुख शैलियाँ

कथात्मक प्रसंगों और दृश्यों के वर्णन से। यद्यपि इस शैली का काव्यात्मक प्रयोग पर्याप्त मात्रा में नहीं हुआ है पर मेरे विचार से प्रगतिवाद के लिए यह शैल बहुत काम की है। अभी इस शैली का प्रगतिवाद के भीतर विकास हो रहा है। पंतजी की 'वे आँखें' इसी प्रकार की रचना है। पर वास्तविकी बात यह है कि उनकी वृत्ति इस प्रकार की रचनाओं में रमती नहीं। 'वे आँखें' नामक कविता में जिस किसान की करुण दशा का वर्णन है उसे यदि कुछ और व्योरे के साथ प्रस्तुत किया गया होता तो संभवतः अधिक मार्मिक प्रभाव निष्पन्न होता।

वर्णनात्मक रचनाओं में कहीं तो कोई कथा-प्रसंग रहता है और कहीं निम्नवर्ग के जीवन का कोई शब्दचित्र मात्र। 'निराला' जी यद्यपि किसी 'वाद' के घेरे में बँधकर रहनेवाले नहीं हैं तथापि इधर उन्होंने अनेक नए ढंग के प्रयोग किये हैं। 'कुत्ता भौंकने लगा' 'डिप्टी साहब आये' 'वर्षा' आदि उनके अच्छे शब्दचित्र हैं। बहुत से प्रगतिवादी कवियों में इस प्रकार के शब्दचित्र लिखने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। ऐसी रचनाओं में कहीं करुणा, कहीं क्षोभ, कहीं उत्साह और कहीं मार्मिक व्यंग सामूहिक रूप से व्यंजित होता है। इस तरह की रचनाओं में व्यंजना का अच्छा चमत्कार मिलता है। उच्चवर्ग की सुखसंपदा और दलित वर्ग की विपदा में वैषम्य निरूपित करके विचार की तीव्रता उत्पन्न करना भी नवीन कवियों की वर्णनात्मक रचनाओं का एक ढंग है। किसी रचना में यत्र तत्र इस प्रकार की विषमता दिखाने की प्रवृत्ति तो पहले की ही है पर कुछ कविताएँ ऐसी दिखाई देती हैं जिनका प्रतिपाद्य यह विरोधनिरूपण ही होता है। इनमें सर्वत्र दीन-जनों का दुःख और विषाद ही नहीं चित्रित रहता है बल्कि उनका मनोबल और

उनकी शक्ति भी प्रकाश में लाई जाती हैं, जैसे 'दो जीवन' में—

कली निगाह में पली,
हिली-डुली कपोल में;
हृदय प्रदेश में खुली,
तुली हँसी की तोल में ॥ १ ॥
गरम गरम हवा चली
अशांत रेत से भरी;
हरेक पाँखुरी जली;
कली न जी सकी—मरी ॥ २ ॥
बबूल आप ही पला,
हवा से वह न डर सका;
कठोर जिंदगी चला,
न जल सका—न मर सका ॥ ३ ॥

—केदारनाथ अग्रवाल

उद्बोधनात्मक शैली के अंतर्गत भावावेश की आकुल व्यंजना और देशके तरुणों एवं श्रमजीवियों को संबोधित कर लिखी गई कविताएँ आती हैं। इसी के भीतर जन-गीतों को भी समझना चाहिए। जब तक कोई आंदोलन 'व्याप्त नहीं हो जाता, जब तक संघर्ष या संक्रांति का समय रहता है तब तक यह शैली चलती है और बाद में आप से आप लुप्त हो जाती है। जो हो, प्रगतिवादी काव्य के भीतर जनगीतों की परिपाटी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये गीत ऐसे होते हैं जिन्हें सहज ही समझा और गाया जा सके। पंतजी का श्रमजीवियों का राष्ट्रगान अच्छा बन पड़ा है पर सरलता की दृष्टि से संभवतः वह प्रगतिवादियों के विशेष अनुकूल न जान पड़े। भाषा उसकी तत्सम प्रधान है और कलात्मकता ऊँची। इधर नवीन कवियों ने ऐसी अनेक प्रचारात्मक रचनाएँ की हैं, जिनमें नरेन्द्र शर्मा को

विशेष सफलता मिली है। इनके जनगीतों में सरलता, प्रवाह और पूरी गेयता मिलती है। इन गीतों में जोशीली प्रचारात्मक वाक्यावलियाँ यहाँ से वहाँ तक गुम्फित रहती हैं। एक नमूना देखिए—

हाथ हथौड़ा लिए हुए हैं,
सन्मुख आ सकता है कौन?
लोहे की दीवार हमारी,
हमें हिला सकता है कौन?

सुनो, साथियो! अमरीका के
शहर शिकागो की है बात,
ओलों-सी गोलियाँ चली थीं,
हुई खून की थी बरसात!

फिर आवाज बुलंद करो सब–
इन्कलाब, फिर, जिंदाबाद!
हो बरबाद सरमायादारी,
इन्कलाआब, जिंदाबाद! इन्कलाआब जिंदाबाद!

पर जहाँ केवल शब्दों की पुनरावृत्ति से प्रवाह लाने और जोश उभाड़ने का प्रयत्न किया जाता है वहाँ वह हास्यास्पद हो जाता है—

(१) काटो काटो काटो करबी
मारो मारो मारो हँसिया

× × × ×

धीरज और अधीरज क्या है
कारज से बढ़ धीरज क्या है
पाटो पाटो पाटो धरती
काटो काटो काटो करबी

(कटुई का गीत—केदार)

(२) आगे, आगे, आगे, आगे सर्राता है!
खोये, सोये, मैदानों को थर्राता है!
आओ, आओ, आओ, अर्राता है!
जीतो, जीतो, जीतो, जीतो, नर्राता है!!

(गर्रा नाला—केदार)

कुछ जनगीतों में यत्रतत्र काव्योचित भावात्मकता भी अवश्य झलक जाती है। सामयिक दृष्टि से इनकी जो उपयोगिता है उससे भी इनकार नहीं किया जा सकता। पर इससे आगे बढ़कर जब इन्हे काव्यसंपत्ति मानने का आग्रह होता है तभी कठिनाई उपस्थित होती है। इसमें संदेह नहीं कि कुछ जनगीतों में सामान्य पाठकों को प्रभावित करने की शक्ति होती है। नरेन्द्र शर्मा के 'बुलावा' की कुछ पंक्तियाँ देखिए।

एक ओर जंजीर, दूसरी—
ओर पड़ी है तेग दुधारी!

जो चाहे ले, आगे आ तू!
जो चाहे ले, हाथ बढ़ा तू!
देखें किसे गुलामी भाती
और किसे आजादी प्यारी?

एक ओर जंजीर०

दाँये-बाँये रूस-चीन, दोनों
साथी लड़ते जमकर
तेरे बाजू में भी दम तो
आज न मर मिटने का गमकर!

आ, रे बीरन! साज किये आ,
तूने ही क्यों हिम्मत हारी!

एक ओर जंजीर०

विचारात्मक शैली उन रचनाओं की है जिनमें कुछ विचारों का प्रतिपादन ही कवि का मुख्य उद्देश्य होता है। नवीन काव्यधारा में ऐसी रचनाएँ पर्याप्त मात्रा में देखी जा सकती हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भाषा की दृष्टि से सिद्धांततः नवीन कवियों का उद्देश्य सरलता और सुबोधता लाना है। इस दृष्टि से पंत रामविलास शर्मा, केदार, सुमन और नरेन्द्र की कई

भाषा की सरलता

रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। सरलता, अभिव्यंजना की सुबोध शैली और सरल भाषा के प्रयोग द्वारा लाई जाती है। सरल भाषा का प्रयोग भी दो तरह से हो सकता है—एक तो शिष्ट-प्रयुक्त सरल शब्द योजना द्वारा और दूसरे व्यावहारिक भाषा के शब्दों के प्रयोग द्वारा। सुमन जैसे कवियों में पहले तरह की सरलता मिलती है और केदार जैसे कवियों में दूसरे तरह की भी। फलतः छिन, धनि, बिसरना, पगही, पागुर, छोपना-छापना, बिलमना, साइत-कुसाइत, गोरसी, सेवर, औंघाना, पोते पनेथी, चना-चबैना, भिसार जैसे कितने ही ग्रामीण शब्द और राजनीतिक क्षेत्रों में प्रचलित यकुम मई, सरमायादारी जैसे उर्दू शब्द नई कविता में गृहीत हो गए हैं।

पर सीधेपन (directness) का ध्यान रखकर बहुत सी ऐसी रचनाएँ निर्मित होती हैं जिनमें काव्य का किंचित अंश विद्यमान नहीं रहता। असल में भाषा में सरलता लाने की बात

सीधापन

छायावाद की दुरूहता को ही ध्यान में रखकर कही गई समझना चाहिए क्योंकि व्यवहार में थोड़ी ही रचनाएँ ऐसी मिलती हैं जिनमें यह विशेषता दिखाई देती है। यदि सर्वसामान्य के लिए रचना को सुबोध बनाना है तो जनता को भी शिक्षित करना आवश्यक है। कविता को ही सीधी (direct) से सीधी बनाते जाना उसके स्वरूप को ही विकृत करना है। इसीलिए श्री रामविलास शर्मा को यह कहने के बाद कि "प्रगतिशील कवि के लिए भाषा को सरल और सुबोध बनाना आवश्यक है।" यह भी कहना पड़ा

कि "भाषा के किसी आदर्श को भी अमर नहीं कहा जा सकता। भावों और विचारों के अनुकूल ही भाषा का रूप होना चाहिए।" पहली बात सिद्धांत की है और दूसरी बात अनुभवसम्मत। यह बात स्मरण रखने की है कि काव्य में सरलता और स्वच्छता लाना एक बात है और सीधापन (directness) लाना दूसरी बात।

प्रगतिवादी रचनाओं में उपमान रूप में जो वस्तुएँ लाई जाती हैं उनमें भी बहुत कुछ नवीनता दिखाई देती है। भाव की प्रेषणीयता की दृष्टि से काव्य में अप्रस्तुत विधान का बहुत महत्त्व है। साधारण बातचीत में भी लोग अप्रस्तुत का प्रयोग करते हैं। बात यह है कि मनुष्य कल्पनाशील प्राणी है, अतः भावों को तीव्र करने के लिए वह अपनी कल्पनाशक्ति का सहारा प्रायः लिया करता है। सीधे-सीधे कोई बात कह देने से हमारा मन नहीं भरता और कभी-कभी उसका प्रभाव भी उतना गहरा नहीं पड़ता जितना कि हम चाहते हैं, इसलिए कुछ घुमा फिराकर बहुत सी बातें कही जाती हैं। 'आप देवता हैं', 'उसके नेत्र हरिण जैसे हैं' और 'वह उल्लू है'—इन सभी कथनों में कल्पना के योग से भाव कितने स्पष्ट और तीव्र हो गए हैं। आप बड़े सज्जन, सच्चरित्र और श्रद्धेय हैं— यह कहने से मन नहीं भरा तो कह दिया आप देवता हैं। उसकी आँखें बड़ी-बड़ी, चुलबुली और सुन्दर हैं—इस प्रकार सीधे कह देने में वह बात नहीं आती जो यह कहने में कि उसके नेत्र हरिण के समान हैं। वह बड़ा मूर्ख है, यह कहने से मन की खीझ पूरी नहीं हुई तो कह दिया—वह उल्लू है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के कथन से मन के भाव बहुत ही स्पष्ट और तीव्र रूप में प्रकट होते हैं। इसमें हमारी सहायता करती है कल्पना। कवि-कर्मका संबंध मुख्यतः भावों से ही होता है अतः कल्पना उसकी एक विशेष शक्ति है। कल्पना द्वारा लाए गए अप्रस्तुतों से जहाँ भावों के उत्कर्ष में सहायता मिलती

अप्रस्तुत विधान

है वहाँ बात को थोड़े में कह देने में भी। कल्पना जिन अप्रस्तुत रूपों का विधान करती है उनमें और प्रस्तुत वर्ण्य वस्तु में रूप या धर्म की समानता रहती है। अप्रस्तुत रूप में जो वस्तुएँ लाई जाती हैं उनमें कुछ न कुछ प्रतीकत्व या भावना जागने की शक्ति निहित रहती है। यह भावना जगाने की शक्ति किसी वस्तु में दीर्घकाल के साहचर्य के पश्चात् आती है। कमल, प्रभात, उषा, चंद्र, सूर्य, अग्नि विभिन्न प्रकार के भाव जाग्रत करते हैं। बहुत दिनों के साहचर्य के कारण मनुष्य जाति के भीतर इन वस्तुओं के प्रति कुछ विशेष प्रकार के संस्कार बन गए हैं। ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता जाता है, भावों और विचारों में परिवर्तन होता जाता है और नवीन वस्तुएँ हमारे सामने आती जाती हैं त्यों त्यों काव्य के भीतर अप्रस्तुत रूप-योजना का क्षेत्र बढ़ता जाता है इसमें संदेह नहीं पर इसके साथ ही साथ "संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने" के विवेक की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। बात यह है कि कल्पना की सहायता से जो उपमान लाए जाते हैं उनका लक्ष्य होता है भाव प्रेषित करना। भाव प्रेषित करने की जितनी ही अधिक शक्ति उपमान में होगी वह उतना ही अधिक काव्योपयुक्त होगा। भाषा प्रतीकात्मक ढंग से ही भाव प्रेषित करती और पाठक के मन में अनुभूति जगाती है। मन पर प्रभाव डालने की प्रक्रिया में काव्य की भाषा शब्द की शक्तियों और ध्वनि (Sound) से काम लेकर या तो मूर्त्त भावनाएँ प्रेषित करती है या भावों का अनुभव कराती है। अतः उपमानों के द्वारा ये कार्य होने ही चाहिए। सादृश्य या साधर्म्य के आधार पर आए उपमानों में यदि प्रतीकत्व या भावना जगाने की शक्ति भी हो तभी वे पूर्ण काव्य-सम्मत माने जाते हैं। पुरानी कविता में आए कितने ही उपमान स्थूल साम्य पर आधारित होने से भावानुभूति में सहायक, या पूरी तरह सहायक नहीं हो पाते। सच्चे कवि इन सब बातों का ध्यान रखकर ही उपमानों की योजना करते हैं।

उपयुक्त अप्रस्तुत योजना से भाव-व्यंजना कैसे सशक्त हो जाती है इसका एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है। एक ही भाव निम्नलिखित दोनों रचनाओं में व्यक्त किया गया है—

रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही राखो गोय।
सुनि अठिलैहें लोग सब, बाँटि न लैहें कोय॥

—रहीम

निकल मत बाहर दुर्बल आह!
लगेगा तुझे हँसी का शीत।
... ... —प्रसाद

पर सादृश्य, साधर्म्य और प्रतीकत्व के सहारे कल्पना ने जो मार्मिक मूर्तिविधान दूसरी रचना में किया है और इसके कारण भाव व्यंजना जैसी गंभीर हो गई है वह इतना स्पष्ट है कि अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं रह जाती।

प्रतिक्रिया के जोश में और प्रयोगशीलता की उमंग में नई रचनाओं में अभी ऐसी अप्रस्तुत-योजना कम हो पा रही है जिस से भाव भली भाँति प्रकाशित हो सकें। इस विषय में पहली उल्लेखनीय बात यह है कि प्रगतिवाद छायावाद के विरोध में उठा था अतः छायावादी अमूर्त्त, वायवी अप्रस्तुत विधान की जगह उसने स्थूल, मांसल उपमान भी लाए और सुन्दर, विशेष और कोमल की जगह कुरूप, सामान्य और परुष रूपविधान भी किए। यद्यपि प्रगतिवादी ढंग की रचनाओं में भी यत्र तत्र अमूर्त उपमान मिल जाते हैं, जैसे इन पंक्तियों में—

सिनेमा के गीत सा यह
वर्गबद्ध समाज
गूँजते है शब्द, जिनका
अर्थ केवल शब्द।

(वर्ग विश्वासी से—रांगेय राघव)

पर आधिक्य मूर्त उपमानों का ही है। शायद मांसलता का आग्रह सब से पहले प्रचंड रूप में 'अंचल' की कविताओं में दिखाई पड़ा था, जिस में कहीं-कहीं यौनप्रवृत्ति का प्रकांड प्रदर्शन देखकर सुरुचि भाग खड़ी होती थी। पर वह बात अब भी प्रगतिवादी रचनाओं के भीतर से एकदम चली गई हो, ऐसी बात नहीं। उपमान रूप में ऐसे अनेक स्थल भारतभूषण अग्रवाल और गजानन माधव मुक्तिबोध आदि की रचनाओं में बराबर दिखाई देते हैं। ऊपर सुरुचि की बात कही गई है, इस से बहुत से नई रुचि वाले लोग नाराज होते हैं और वर्तमान समाज की असंगत व्यवस्था में नए ढंग की असंगत रुचि का आविर्भाव अनिवार्य मानते हैं। इस तरह के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

(१) कुत्ता मध्यवर्ग
कि धर्म जोंकें,
छोड़ सबको,
पतित वे,
देंगे न तुझको कीर्त्ति भी निर्व्याज······

(२) संस्कृति की अभिजात हँसी का
धोखा नंगा,
अहं लीनता की खुल पड़ती
कामुक जंघा।

(३) उल्लू हरामी के पिल्ले ये पूंजीपति।

कमल, प्रभात, उषा, चंद्र, सूर्य, अग्नि विभिन्न प्रकार के भाव जाग्रत करते हैं। बहुत दिनों के साहचर्य के कारण मनुष्य जाति के भीतर इन वस्तुओं के प्रति कुछ विशेष प्रकार के संस्कार बन गए हैं। स्वभावतः दीर्घ साहचर्य के कारण भावना जगाने की शक्ति इनमें अधिक है। पर ज्यों-ज्यों नवीन वस्तुओं से हमारा परिचय होता जाता और सान्निध्य बढ़ता जाता है त्यों-त्यों उनके लिए भी उपमान रूप में गृहीत होने की

संभावना बढ़ती जाती है। काव्य के भीतर अप्रस्तुत रूपयोजना का क्षेत्र क्रमशः विस्तृत होना चाहिए भी। रेलगाड़ी, हवाई जहाज, बिजली के लैंप, कारखाने की चिमनी जैसी न जाने कितनी वस्तुएँ हमारे सामने आई हैं। पर अप्रस्तुत रूप में नई वस्तुओं को सामने लाने के पहले इस बात की पूरी परख कर लेनी चाहिए कि ये वस्तुएँ हमारे भावों को कहाँ तक उद्बुद्ध करने में सहायक हो सकती हैं। प्रगतिवादियों की प्रवृत्ति मुख्यतः वस्तुगत और यथार्थवादी होने के कारण अनेक नए उपमानों का काव्य क्षेत्र में आगमन हुआ है। नए उपमान लाने में कहीं तो कविगण नवीनता लाने में ही अधिक दत्तचित्त दिखाई देते हैं और कहीं यथार्थ भावविन्यास पर भी उनकी दृष्टि रहती है। कुछ नए ढंग की अप्रस्तुत योजनाएँ देखिए--

(१) कोयले की खान की
मजदूरिनी सी रात
बोझ ढोती तिमिरका
विश्रांत सी अवदात...

(२) अरे दर्जी हूँ,
नहीं हूँ मैं रफूगर
यात्रा के छंद जब मैं जोड़ता हूँ
वे पथिक के गीत बनते जा रहे हैं...

(रांगेय राघव)

(३) चल रहे देवता थे
ढेला-सी बड़ी बड़ी आँखें लिए...

(४) अधिकांश जनता का
रद्दी की टोकरी का जीवन है;
संज्ञाहीन, अर्थहीन,
बेकार, चिरे-फटे टुकड़ों-सा पड़ा है!

(केदार)

(५) लहू की बूँदों-से
जलते हैं बिजली के बल्ब सूनी सड़कों पर,—लाल लाल।
(रामविलास शर्मा)

(६) मटक मटक मुँह बिचकाती हैं पथ पर पागल
बूढ़े स्तन लटकाए नंगी भाग्य-देवता
फूटे बर्तन-सी तिरस्कृता जब मानवता

(७) दो लालटेन से नयन दीन;
× × × ×
लकड़ी का खोखा वक्ष रिक्त...
(मुक्तिबोध)

(८) लेखनी ही है हमारा फार
धरा है पट, सिंधु है मसिपात्र
तुच्छ से अति तुच्छ जन की जीवनी पर हम लिखा करते
—कहानी, काव्य, रूपक, गीत...
(नागार्जुन)

इन उदाहरणों से कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं। पहली बात तो यह है कि नई कविता के उपमान अधिकतर नरक्षेत्र के हैं। पहले के अधिकांश उपमान प्रकृति-क्षेत्र के होते थे, प्रगतिवादी कविता के उपमान अधिकतर नागरिक जीवन से संबद्ध या निम्नवर्गीय ग्रामीण जीवन के हैं। दूसरी बात यह है कि ये उपमान इस दृष्टि से लाए जाते हैं कि अपनी विशिष्ट संबंध भावना के द्वारा ये व्यंजित भाव को पूरी कटुता से सामने ला सकें। तीसरे, उपमान चुनने में उसकी नवीनता और परंपरागत संस्कारों को हिला देने की शक्ति का कविगण अधिक ध्यान रखते हैं। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत का मार्मिक रूप विधान करने अथवा अनुरूप भावमयता लाने की चिंता उतनी नहीं की जाती जितनी कि जैसे तैसे मस्तिष्क को किसी विचार की ओर उन्मुख कर देने की कोशिश। कभी कभी ऐसा देखने में

आता है कि जो प्रचलित उपमान भी लाए जाते हैं वे नए विशेषण-पदों के साहचर्य अथवा छंद में आई अन्य वस्तुओं के संबंध के कारण अपना पूर्वरूप त्याग कर नए ढंग के अन्य भाव प्रकट करने को विवश किए जाते हैं। अधिकतर अप्रस्तुतों के चुनाव में उनकी भावोद्बोधन की क्षमता न देखकर उनका अतिनूतनत्व और अति साधारणत्व या असाधारणत्व देखा जाता हैं।

प्रगतिवाद के साथ ही साथ, कुछ आगे पीछे, हिन्दी काव्य में आधुनिक मनोविश्लेषण से परिचित प्रयोगवादी कवियों का भी एक दल चल पड़ा था जो पहले प्रगतिवादी आंदोलन के कारण प्रसिद्धि तो नहीं प्राप्त कर सका था पर चलता बराबर रहा और अब वह अच्छी तरह सामने आ भी गया है। इस दल के अगुआ अज्ञेय हैं। कई प्रगतिवादी कवि इनसे भी प्रभावित हैं। अर्थात् अवचेतन मन की अस्पष्ट भावनाओं को अस्पष्ट प्रतीकों द्वारा प्रकट करने और स्मृत्युद्बोधन प्रणाली (Association of ideas) द्वारा भाव-शृंखला को छितरा कर अस्तव्यस्त मानसिक स्थिति व्यक्त करने, और इसी तरह मनोविश्लेषणशास्त्र के अन्य अनेक सिद्धान्तों की सहायता लेकर अर्ध चेतन और अचेतन मन के भाव व्यंजित करने का प्रयास कई प्रगतिवादी कवियों में भी दिखाई देता है पर ये सब विशेषताएँ सिद्धान्ततः इनकी नहीं कही जा सकतीं। ये विशेषताएँ वास्तव में मनोविश्लेषण पद्धति से परिचित और राजनीतिक संप्रदाय-निरपेक्ष उस दल का है जिसे प्रयोगवादी कहा जाता है।

नई रचनाओं में रचनाप्रक्रिया संबंधी नवीनता के मूल में बदली हुई सौंदर्य चेतना का बहुत बड़ा हाथ है। प्रगतिवादी कवियों का कहना है कि सौंदर्य एक गत्यात्मक और परिवर्तनशील तत्त्व है। ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार सौंदर्य की धारणा भी बदलती रहती है। सौंदर्य का एक पक्ष कोमल और मधुर है तो दूसरा पक्ष कठोर और कर्कश है। आज की विशृंखल सामाजिक अवस्था में कठोर और कर्कश हमारे

जीवन में अधिक घुलामिला है अतः हमारी रचनाओं में उसका आविर्भाव अधिक स्वाभाविक है। ये कवि एक नवीन सौंदर्य चेतना उत्पन्न करने का प्रयास कर रहे हैं। अब उनके प्रतीकों और अप्रस्तुतों द्वारा वास्तव में यह सौंदर्य चेतना अथवा भावमयता कहाँ तक आ पाती है यह एक प्रश्न है क्योंकि उन अप्रस्तुतों द्वारा भाव पाठक के मन में प्रेषित भी तो होना चाहिए।

हाँ प्रगतिवादी कवियों के अप्रस्तुत विधान के विषय में यह कहा जा सकता है कि वह अधिकतर मूर्त्त होता है और इस लिये अपेक्षाकृत वह प्रायः अधिक स्पष्ट भी है। वस्तु जगत के प्रति एक निश्चित बौद्धिक धारणा द्वारा संघटित भाव-योजना के भीतर ऐसा होना स्वाभाविक ही है। पर अपने सिद्धांतों के प्रति अत्यधिक सचेत होने और केवल 'नवीन' ढंग का ही ध्यान रखने से दूसरे पक्ष अर्थात पाठक का विचार नहीं रह जाता या बहुत कम रह जाता है।

अन्योक्ति

कुछ नवीन कवियों में अन्योक्ति विधान की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इस प्रकार की रचना में प्रस्तुत वर्णन के स्थान पर उससे मिलता-जुलता अप्रस्तुत विधान किया जाता है। यहाँ सारा प्रस्तुत अर्थ व्यंग्य रहता है। ऐसी रचनाओं का सामान्य कथनमात्र करनेवाली रचनाओं से अधिक प्रभाव पड़ता है, इसमें संदेह नहीं। उदाहरण के लिए 'ग्राम्या' की 'स्वीट पी के प्रति' नामक कविता लीजिए जिसमें मध्यवर्गीय कुलबधू का वर्णन है पर उसका स्पष्ट वर्णन कहीं नहीं हुआ है।

स्वीट पी देखने में सुन्दर होती है, बड़े यत्न से उसकी रक्षा की जाती है, संपन्न व्यक्तियों की फुलवारी में वह लगाई जाती है पर सामान्य रूप से खाने पीने में उसका उपयोग नहीं किया जाता। अर्थात् उपयोगिता की दृष्टि से उसका मूल्य विशेष नहीं। ये सारी

बातें कुलवधू के पक्ष में भी घट जाती हैं। इस प्रकार की रचनाओं में व्यंग की भी अच्छी योजना की जा सकती है।

अन्योक्तिपद्धति पर लिखी गई दूसरी रचना लीजिए—'कोयले'। इसमें अन्योक्ति पद्धति पर श्रमिकों की खिन्नता, दीनता और मलिनता के साथ ही यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि अब उनमें चेतना आ गई है और वे अपनी दुर्दशा से परित्राण पाने के लिए कटिबद्ध हैं—

जल उठे हैं तन बदन से,
क्रोध में शिव के नयन से।
खा गए निशि का अँधेरा,
हो गया खूनी सवेरा।
जग उठे मुरदे बेचारे;
बन गए जीवित अँगारे।
रो रहे थे मुँह छिपाए;
आज खूनी रंग लाए।

—केदारनाथ अग्रवाल

इसमें कोयले से श्रमिक का सादृश्य है कुरूपता और मलिनता का। साधर्म्य इस बात का है कि जैसे कोयले आग से जल उठते हैं वैसे ही श्रमिक चेतना के उद्बुद्ध होने पर उत्साह और क्रोध से लाल हो गए हैं। पूरी रचना से यह भी व्यंग्य है कि जो वस्तु इतनी तुच्छ है वह भी कर्म की प्रेरणा और उत्साह का संचार होने पर शक्तिमती बन सकती है। इस पद में सामान्य कथन की अपेक्षा कुछ आकर्षण, कुछ चमत्कार अवश्य आ गया है। अप्रस्तुत के विषय में ध्यान रखने की बात केवल यही है कि जो वस्तुएँ उपमान रूप में लाई जायँ उनमें सारूप्य या साधर्म्य-गुण के साथ ही मन को लीन कर लेने की शक्ति भी अवश्य हो। कहने का तात्पर्य यह कि प्रभाव-

साम्य पर भी वैसी ही दृष्टि रखने की अपेक्षा है जैसी छायावादी कवियों की, सौंदर्य-विधान में रहती आई।

व्यंग विधान

व्यंगका स्वभाव प्रतिक्रियात्मक होता है और प्रयोक्ता की थोड़ी असावधानीसे भी वह विध्वंसात्मक बन बैठता है; या यह भी कहा जा सकता है कि वह अधिकतर विध्वंसात्मक होता ही है। एक लेखकका कहना है कि, 'व्यंग शालीन और सुखद नहीं हो सकता। यदि उसे अपना अस्तित्व बनाए रखना है तो उसे निष्ठुर, प्रचण्ड और तीक्ष्ण होना ही पड़ेगा, बल्कि सम्भवतः कभी कभी औचित्य की सीमा का उल्लंघन भी करना होगा। व्यंग लिखने वाला कवि बहुत कुछ इजलासमें विपक्षी पर आक्रमण करने वाले वकील की तरह होता है।' वास्तव में व्यंग आक्रमण करने का साधन ही है इसलिए इसकी प्रकृति अलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक है, सहानुभूतिमूलक और रचनात्मक नहीं। इसका विकास बौद्धिक स्तर पर होता है, भावभूमि पर नहीं। व्यंग लेखक अपने समय की वस्तुस्थिति को अस्वीकार करके उस पर वाचिक प्रहार करता है। हास्य-लेखक की भांति उसका सम्बन्ध मनुष्य को स्थायी और आधारभूत मनोवृत्तियों से नहीं होता बल्कि वह अपनी या अपने साथियों की दृष्टि से जो कुछ अनुचित है उसका उपहास करता है, खिल्ली उड़ाता है। जिस वस्तु या व्यक्ति पर व्यंग किया जाता है उसे पाठक की दृष्टि में हेय दिखलाना, और कभी-कभी उसे क्षति पहुँचाना भी लेखकका उद्देश्य होता है। हास्य तथा व्यंग में मूलभूत अन्तर यही है कि प्रथम में लेखक का उद्देश्य शुद्ध मनोरंजन होता है और उसकी दृष्टि सहानुभूतिमूलक। इसके द्वारा लेखक पाठकका मन निर्विकार उल्लास से भर देता है और मानव-स्वभाव की कमजोरियों को विलक्षण ढंग से सामने लाकर चमत्कृत करता है पर व्यंगकार अपने विपक्षी पर इतने जोर से प्रहार करता है कि उसका खटाका साफ सुनाई देता है। उसका लक्ष्य जब तक भलीभांति

विद्ध नहीं होता तब तक व्यंगकार को चैन नहीं मिलती। इसलिए व्यंग अपने आप में कुछ बहुत उच्च कोटि की साहित्य-रचना नहीं मानी जाती है। काव्य की अपेक्षा वह गद्य के क्षेत्र के अधिक उपयुक्त है।

व्यंग की कसौटी काव्योपयुक्त भावमयता नहीं, बौद्धिक नीतिमत्ता और तीक्ष्णता है। हास्य की भांति न तो उसमें स्थिरता होती है और न विशदता। व्यंग अधिकतर आकस्मिक और विशेष होता है, सर्वकालीन और सामान्य नहीं। इसलिए उसका प्रभाव समसामयिक पाठक पर ही पड़ता है। यह अवश्य है कि समर्थ कवियों के हाथ में पड़ कर अपनी मार्मिकता और कलामयता के कारण वह कभी-कभी उपरिनिर्दिष्ट सीमाओं को तोड़ कर बहुत कुछ स्थायित्व भी धारण कर लेता है।

भावमयता और कल्पनासौष्ठवसे हीन और जीवन के आधारभूत तत्वों और मनोवेगों से सम्बन्ध न रखने के कारण यद्यपि काव्य के क्षेत्र में व्यंग को ऊंचा स्थान नहीं दिया जा सकता पर इसका एक स्थान अवश्य है। इसकी अपनी विशेषता, इसकी बौद्धिक वेगमयता, तीक्ष्णता और यथार्थता में है जिसमें आघात और प्रत्याघात की मानसिक प्रक्रिया पूरी होती है।

हास्यके परिवार में पलकर व्यंग कुछ संस्कृत जरूर हुआ है, उसने थोड़ी सभ्यता सीख ली है पर जन्मगत संस्कार एक दम कैसे छूटते। परिवार की मर्यादा छोड़कर वह प्रायः अपना औद्धत्य प्रदर्शित किया करता है। जहां तक बनता है ऐसे मौके पर आकर हास्य परिस्थिति को संभाल लिया करता है नहीं तो शायद व्यंग कभी का साहित्य-क्षेत्र से एक दम निकाल बाहर किया गया होता।

व्यंग की तीन बहिनें हैं—वाग्विदग्धता, वक्रोक्ति और कटूक्ति। वाग्विदग्धता बड़ी बहिन है, बुद्धिमती है और भाई की बड़ी सहायता करती है। अपनी प्रगल्भता, प्रत्युत्पन्नमति और प्रतिभा से वह व्यंग की उद्दण्डता पर परदा डाल कर उसे निरादृत होने से ही नहीं बचाती बल्कि

पाठक की दृष्टि में उसका सम्मान और आकर्षण भी बनाये रहती है। नारी-सुलभ कलाप्रियता और प्रगल्भता उसमें स्वभावतः विद्यमान है। इसके कारण शिष्ट समाज में व्यंग आदर का स्थान पाता है।

इसकी दूसरी बहिन वक्रोक्ति जरा तेज मिजाज की है। इसके साथ कोई न कोई भेद की बात, कुछ न कुछ रहस्यमयता बराबर लगी रहती है। सीधे मुंह बात करना इसे आता ही नहीं। इसके कथन में विरोधाभास झलकता रहता है। कहती है कुछ और उसका आशय होता है कुछ दूसरा ही। इसकी बातें चुभती हुई होती हैं।

कटूक्ति मुँहफट औरत है। जब व्यंग की हिंस्र प्रवृत्ति जोर से उभड़ जाती है, किसी के मनाये वह नहीं मानती तब भाई की सहायता के लिए कटूक्ति आती है। यह जबान के कोड़े चलाती है। वक्रोक्ति का स्वभाव इससे इस बात में मिलता है कि यह भी प्रायः द्वयर्थक बात कहती है—जो कहती है उससे उल्टा उसका मतलब होता है। यह अन्य बहिनों की अपेक्षा कुछ गँवार है, सुरुचि का ज्ञान इसे नहीं। कटुता इसमें अधिक है।

यहाँ तक तो गनीमत समझिए, पर जब व्यंग विक्षिप्त हो जाता है, उसके होश हवास दुरुस्त नहीं रहते और वह समान शीलव्यसन वाले लेखक सखाजन के बहकाने से गाली-गुफ्ता देने और भँड़ौआ करने पर उतारू हो जाता है तब बेचारा हास्य तो हार मानकर एक दम अलग हो ही जाता है, उसकी तीनों बहिनें भी हाथ समेट किनारे हो जाती हैं।

आलंकारिकता छोड़कर यदि सीदे ढंग से कहें तो कह सकते हैं कि व्यंग कभी तो स्पष्ट होता है और कभी वाग्विदग्धता, वक्रोक्ति या कटूक्ति से युक्त। कला की परिष्कृति और सुरुचि का एकदम अभाव होने पर वह भँड़ौवा मात्र रह जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वाग्विदग्धता और वक्रोक्ति से पूर्ण व्यंग ही साहित्यिक कोटि में आ सकता है। हिन्दी की प्रगतिवादी कविता में देखने को तो उपरिनिर्दिष्ट सभी प्रकार के व्यंग

का विधान मिल जाता है पर आधिक्य किसका है, यह वर्त्तमान हिन्दी कविताकी गतिविधि से परिचित पाठकों से छिपा नहीं है।

यह सच है कि थोड़ी बहुत व्यंगमयी काव्य-रचनाएं हिंदी में पहले से भी होती आयी हैं और छायावाद काल में निरालाने कहीं-कहीं सामाजिक व्यंग का बहुत मार्मिक विधान किया है, पर किसी सम्पूर्ण काव्यधारा की एक विशेषता के रूप में वह प्रगतिवाद के ही भीतर प्रस्फुट हुआ है। प्रगतिवाद की ओर आकृष्ट होने पर पंत में भी व्यंग की रुचि जगी। 'ग्राम्या' की कई व्यंगात्मक रचनाएं बहुत अच्छी उतरी है। हमारी वर्त्तमान सामाजिक और राजनीतिक स्थिति में विचारकों को व्यंगोक्तियों के विधान का अच्छा अवकाश मिल जाता है। ग्रामीण-जीवन को बौद्धिक दृष्टि से देखने वाले पंत को भी वहां व्यंग की सामग्री मिले, यह स्वाभाविक ही है। दो एक उदाहरण लीजिए। कवि देवी-देवताओं के भरोसे भाग्य का नाम लेकर बैठे रहने वाले अकर्मण्य ग्रामीणों और अन्धविश्वासों के आवरण में लिपटे हुए 'ग्रामदेवता' पर व्यंग करता हुआ कहता है—

रामराम

हे ग्राम्य देवता, यथा-नाम !
शिक्षक हो तुम, मैं शिष्य,
तुम्हें सविनय प्रणाम !
विजया, महुआ, ताड़ी,
गांजा पी सुबह-शाम
तुम समाधिस्थ नित रहो,
तुम्हें जगसे न काम !
पंडित पंडे, ओझा,
मुखिया औ' साधु-संत
दिखलाते रहते तुम्हें

स्वर्ग-अपवर्ग पंथ !
जो था, जो है, जो होगा,
सब लिख गये ग्रंथ,
विज्ञान-ज्ञानसे बड़े
तुम्हारे मंत्र-तंत्र !

× × ×

राम-राम
हे ग्राम-देव लो हृदय थाम,
अब जन-स्वातंत्र्य युद्धकी
जगमें धूम-धाम
उद्यत जनगण युग-
क्रांति के लिए बांध लाम,
तुम रूढ़ि-रीतिकी खा
अफीम, लो चिर विराम !

—पंत

संसार समय-चक्र के साथ कहाँ का कहाँ पहुँच गया और भारत के गाँव अभी 'अनिष्टदेवों' की पूजा में लीन साधारण कोटि के विश्वासों पर टिके जहाँ के तहाँ पड़े हुए हैं, रूढ़ियाँ किस प्रकार उन्हें पीछे खींचे हुई हैं इन सबका उल्लेख जिस व्यंगपूर्ण पद्धति पर हुआ है वह देखने योग्य है। इसी प्रकार 'संध्याके बाद' 'स्वीट पीके प्रति' आदि रचनाओं में भी कवि की व्यंग वृत्ति बहुत अच्छे ढंग से प्रस्फुट हुई है। अपनी सुरुचि-संपन्नता, कलामयता और परिष्कृति के कारण पंत का व्यंग-विधान मार्मिक, शिष्ट और परिमार्जित हुआ है।

व्यंग दो तरह का हो सकता है—व्यक्तिगत और किसी व्यवस्था या रीतिनीति के प्रति। व्यक्तिगत व्यंग निकृष्ट कोटिका माना जाता है जो घृणा और ईर्ष्या द्वारा प्रेरित होता और व्यवहार में भी इन्हीं की अव-

तारणा करता है; पर किसी व्यवस्था के प्रति किये गये व्यंग का उद्देश्य, प्रायः सुधार होता है या कम से कम अपने विचार से समाज के प्रति कल्याण की भावना से युक्त रहता है। प्रगतिवादी कविता में दूसरे ही तरह का व्यंग अधिक मिलता है। इसके कई प्रकार हैं--सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, और साहित्यिक। जहां कहीं व्यक्तिगत व्यंग दिखाई देता है वहां भी उसका धरातल व्यवस्था-निष्ठ ही होता है।

रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से, वाग्विदग्धता और वक्रोक्ति आदि के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के कला--उपादानों की सहायता से व्यंग का विन्यास देखा जाता है। यहाँ कुछ प्रमुख प्रणालियों का निर्देश किया जाता है।

आज की प्रगतिवादी रचनाओं में अधिकतर सांकेतिक विरोध का आधार लेकर व्यंग खड़ा होता है, जैसे निम्नलिखित में—

जब बाप मरा तब यह पाया
भूखे किसान के बेटे ने:
घरका मलवा, टूटी खटिया,
कुछ हाथ भूमि--वह भी परती।
चमरौंधे जूते का तल्ला,
छोटी टूटी बुढ़िया औंगी;
दरकी गोरसी, बहता हुक्का,
लोहे की पत्ती का चिमटा।
कंचन सुमेरु का प्रतियोगी
द्वारेका पर्वत घूरे का,
बनिया के रुपयों का कर्ज़ा
जो नहीं चुकाने पर चुकता।
दीमक, गोंजर, मच्छर, माटा—
ऐसे हजार सब सहवासी,

बस यही नहीं, जो भूख मिली
सौगुनी बाप से अधिक मिली।

(पैतृक संपत्ति—केदार)

यहां व्यंग का सारा रूप प्रच्छन्न या सांकेतिक विरोधपर आधारित है।

"पैतृक संपत्ति" देखते ही हमारे सामने संपत्तिशाली बाप के बेटों की पैतृक संपत्ति का दृश्य आ जाता है और दूसरी ओर दरिद्र किसान के बेटे की विरासत में मिली विपत्ति दिखाई देती है। इस विरोध भावना का निर्वाह पूरी रचना में अच्छे ढंग से हुआ है, पर जहाँ स्पष्ट उल्लेख द्वारा विरोध के आधार पर सपाट व्यंग किया जाता है वहाँ वह उतना अच्छा नहीं उतरता—

हो रही ईर्ष्या तुम्हारे भाग्य से
पर क्या करूँ,
अभिशप्त ठहरा
बंधु, मेरे पास भी यदि
बाप-दादों की उपार्जित भूमि होती
धान होता बखारों में

× × ×

फिर क्या न मैं भी
याद कर प्रथमा, द्वितीया
या तृतीया (प्रेयसी) को
सात छेदों की रुपहली
बाँसुरी में फूँक भरता
वैष्णवों की विरहिणी
वृषभानुजा के नामपर ही सही,
फिर भी फूंक भरता...
निकलता चांदी-मढ़ी

ससुराल की वह छड़ी लेकर...
बीचमें मैं, हरित श्यामल
खेत चारों ओर...
श्लील या अश्लील कुछ भी
गुनगुनाता मदिर मुग्ध विभोर।

(एक मित्रको पत्र —नागार्जुन)

रूपक के सहारे कहीं-कहीं बहुत सुन्दर व्यंग-विधान किया गया है। निराला की यह रचना देखिए—

तबला दोनों हाथ आया हथियार,
दरबारी वीर-राग छाया रहा।
सुब्होशाम किरन जैसे तारपर
जीवन-संग्राम हमारा छिड़ा।
सत्य सिनेमा की नटीसे नाचा,
पूरब का पाया हिला पश्चिम से,
दुश्मन की जान आयी आफत में !
गली गली गले के गोले दगे।

(खुशखबरी—निराला)

सिनेमा के प्रचार का भारतीय युवक-समाज पर कैसा दुष्प्रभाव पड़ा, संगीत की कैसी दुर्गति हुई, संकटापन्न समाज और देश के अकर्मण्य युवक किस प्रकार बाजारू गानों में मस्त हो अपना कर्त्तव्य भूल बैठे—इन सब पर जैसा वक्रोक्तिपूर्ण व्यंग इस रचना में है और रूपक के निर्वाह के साथ ही अंतिम पंक्तिमें वर्ण-मैत्री द्वारा जो चमत्कार लाया गया है वह दर्शनीय है। वास्तव में निराला वर्त्तमान हिन्दी काव्य के सब से अच्छे और बुरे व्यंगकार हैं। व्यंगकी कलाका उत्कर्ष, दोनों ही दिशाओं में इनकी रचनाओं में खूब हुआ है।

इसीसे मिलता-जुलता, रूपकाभासपर आधारित, कांग्रेस सरकार के प्रति एक कम्युनिस्ट व्यंग इस प्रकार है—

अंग्रेज करा गये ब्याह,
अब "आजादी" सिर्फ तुम्हारी है,
हम आजादी के आशिक हैं
गद्दार तुम्हारी आंखों में।

(नया साहित्य—मई १९४९)

इसी ढंग से मिलता-जुलता व्यंग-विधान इन पंक्तियों में भी है जिसमें अपने प्रतिद्वन्द्वी शासनारूढ़ राजनीतिक दलकी आलोचना की गई है—

आजादी की कलियाँ फूटीं
पाँच साल में होंगे फूल।
पाँच साल में फल निकलेंगे,
रहे पंतजी झूला झूल।
पाँच साल कम खाओ भैया,
गम खाओ दस-पंद्रह साल—
अपने ही हाथों से झोंको
यों अपनी आंखों में धूल।
आजादी की कलियाँ फूटीं,
पाँच साल में होंगे फूल।

('जनवाणी' अगस्त ४९ की एक टिप्पणी में उद्धृत)

प्रसंगगर्भत्व लाकर भी व्यंग की योजना करने का प्रयास कुछ रचनाओं में दिखाई देता है—

(१) जाने क्या क्या है छुपा हुआ
सरकार तुम्हारी आंखों में,
झलका करता है राम-राज्य का
प्यार तुम्हारी आंखों में।

मनचाही माँगी जमानतें
जब चाहा धावा बोल दिया,
'सी सम-सम' ताला बंद हुआ
'सी सम-सम' ताला खोल दिया।
चालीस चोर का खेल प्रेस-
अखबार तुम्हारी आंखों में।
(२) आजादी की गंग समायी
अटली की उलझी लट में—
बंजर, ऊसर, परती धरती
पड़ी हुई है जसकी तस,
पीते हैं नेता निचिंत हो
घोल घोल पहले का जस।

कहीं-कहीं शब्दप्रयोगपर ही व्यंग का ढाँचा खड़ा दिखाई देता है जो कहीं दुहरे अर्थ और कहीं व्यंजना के द्वारा चमत्कृत करता है, जैसे--

(१) गोरा लगता है अब काला
बाजार तुम्हारी आँखों में,
तुम सेठ हो सत्य-अहिंसा के
अब किस की ठेकेदारी है।
(नया साहित्य—मई १९४९)

(२) प्रश्न—परहित छँगुनीपर धरेनि,
गोवरधन गोपाल।
तुम दुख माँ गिरिपर चढ़्यो,
तजि धरती के लाल॥
उत्तर--यहि माँ कौन अनीति भै,
कहौ तनिकु समझाय।

अन्न कमी लखि घास माँ,
गयन हवा हम खाय ॥
(३) नसा बंद कइ उइ अलँग,
किह्यो बड़ा उपकार।
ई लँग नसा पहार का,
तुमपर भवा सवार ॥

(हंस—जून १९४७)

(४) जमकर बदलू ने
बदमाश को देखा, फिर
उठा क्रोधसे भरकर
और एक घूंसा तान
कर नाक पर दिया।
गोड़इत प्रेमीजन था,
जमीं चूमने लगा।

(निराला)

पहले उदाहरण में चमत्कार 'सेठ' शब्द पर आधारित है जिसके व्यंजनापूर्ण अर्थ से व्यंग निष्पन्न होता है और दूसरे में 'हवा खाना' के श्लिष्टत्वपर, तीसरे में यमक और लाक्षणिकता के विधान तथा चौथे में श्लेषानुप्राणित मुद्राकी योजना से व्यंग ध्वनित किया गया है।

अन्योक्ति पद्धतिपर भी धनिकवर्ग के प्रति किये गए व्यंग मिलते हैं। इस प्रकार की एक रचना यह है—

दीन मानव जातिका
यह स्वर्ण-दिन है!
जो हमारे पूज्य प्रभुजी,
आर्त्तनाद सुनारका सुन,
कोयलों की आग में आ
रोमसे, तन से, हृदयसे···

आज पहली बार पिघले !
दीन मानव जाति का यह स्वर्ण-दिन है !
(सोने के देवता—केदार)

'सोने के देवता' हैं पूँजीपति, जो सर्वहारा वर्गकी क्रांतिकी लपटों में आकर ही पिघलेंगे और तब समस्त मानव जाति के लिए शुभ समय आएगा।

पंतकी 'स्वीट पीके प्रति' में भी अन्योक्ति के द्वारा ही अभिजात कुलकी नारियों के प्रति व्यंग किया गया है।

बिना बाहरी आलंकारिकता के भी व्यंग विधान किया जाता है जिसमें पूरी रचना के सामूहिक प्रभाव पर व्यंग निर्भर रहता है। ऐसी रचनाओं में बौद्धिक संयम और सूक्ष्मग्राही चेतना आवश्यक होती है। ऐसा न होने पर व्यंगका स्तर बहुत ही छिछला और अपरिष्कृत हो जाता है। 'ग्राम्या' में पन्तने इस ढंगका व्यंगविधान 'सन्ध्या के बाद' जैसी कई रचनाओं के भीतर किया है जिनमें व्यंग संतुलित बुद्धि का व्यापार है, अमर्यादित आक्रोशमयी भावुकता का प्रलाप नहीं।

निम्नलिखित उदाहरण में भी पंतकी ग्रामदेवता नामक रचना की भांति पुरातन-प्रियता और रूढ़िवादिता की खिल्ली उड़ायी गयी है जिसमें 'कछुआ' भारतीय संस्कृति के प्रतीक के रूप में चित्रित किया गया है—

'यदा संहरते चायं
कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः'—
गीता में यह स्थितप्रज्ञ का लक्षण।
तुम हो जीव विलक्षण।
बड़ी उम्र है कच्छपराज तुम्हारी।
कड़ी पीठ,
सिवार-सनी यह पृथुल देह, गति शिथिल,

× × ×

जो हो, मुझे दीखते हो तुम, कछुए,
मानो भारत-संस्कृति के प्रतीक,
जिसे जरा-सी छुए ना छुए
नये ज्ञान की सूक्ष्म सी लहर
कि वह सिहर कर
छुई-मुई सी
बन जावेगी सिमट-सुमुट कर
गुड़ी-मुड़ी-सी—
अविचल, सिर्फ गाँठ ही गाँठ
नकारात्मक दिखला देगी
कर्री, चिकनी, निपट पीठ ही पीठ !

(कछुआ—प्रभाकर माचवे)

नये ज्ञान विज्ञान की ओर से आँख मूँदकर 'आप्त वाक्यों' के निर्देश पर ही सदा चलने की प्रेरणा देनेवाली पुराणपंथी संस्कृति के ऊपर इस रचना में व्यंग किया गया है और नवयुग में उसकी अनुपयुक्तता दिखलाने की चेष्टा की गयी है। इसी रूढ़िवादितापर चन्द्रधर-शर्मा गुलेरी के 'कछुआ धर्म' नामक निबंध में भी बहुत अच्छे ढंगसे जोरदार व्यंग किया गया है।

अब दूसरा उदाहरण लीजिए। 'सत्यं शिवं सुंदरम्' की पुकार मचानेवाले कलावादियोंपर व्यंग है, जो असीम की ललक में ससीम की बात तक नहीं करते, अथवा जो 'राधा कन्हाई सुमिरन को बहानो है' वाली भावना से भरी श्रृंगारी कविताओं पर मुग्ध होकर वाह-वाह किया करते हैं—

शुद्ध कलाके पारखी,
कहते हैं उस पार की,
इस दुनियाकी कौन कहे?
भवसागर में कौन बहे ?

जै हो राधा रानी की
या जिसने मनमानी की
राधा या अनुराधा से
छिपकर अपने दादा से
कैसी बढ़िया चाल की
बलिहारी गोपाल की।

उनके भक्तोंमें से हम !
सत्यं शिवं सुन्दरम्।

(सत्यं शिवं सुन्दरम्–रामविलास शर्मा)

व्यंग जितना ही व्यंग्य हो उतना ही वह कलात्मक समझा जाता है। अभिधा द्वारा व्यंग-कथन में एक तो प्रभावोत्पादकता उतनी नहीं आती और दूसरे उसके सपाट और असंयत होने की भी आशंका बनी रहती है—ऐसा कुछ लोगों का मत है। पर केवल व्यंग्य होने से ही वह मार्मिक हो जाय, ऐसी बात नहीं। जो हो, एक इस प्रकार का उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

'खाना खाकर कमरे में बिस्तरपर लेटा
सोच रहा मैं मन ही मन 'हिटलर बेटा
बड़ा मूर्ख है जो लड़ता है
तुच्छ-क्षुद्र मिट्टी के कारण
क्षण भंगुर ही तो है रे !
यह सब वैभव-धन !
अन्त लगेगा हाथ न कुछ,
दो दिन का मेला।
लिखूँ एक खत, हो जा गांधीजी का चेला
वे तुझको बतलाएँगे आत्मा की सत्ता।
होगी प्रकट अहिंसा की तब पूर्ण महत्ता।
कुछ भी तो है नहीं धरा के अन्दर।'

× × ×

छतपर से पत्नी चिल्लाई: 'दौड़ो बंदर !'

(अहिंसा—भारत भूषण अग्रवाल)

इसमें अन्तिम पंक्तिकी व्यंजना पर ही व्यंगका सारा ढांचा खड़ा है।

अब अंत में इस प्रसंग में 'पैरोडी' का भी उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। साधारणतया इसका अर्थ समझा जाता है किसी रचना, रचना-प्रकार या रचनाकार की कृतिका अनुकरण कर उसका उपहास करना। इस तरह की अनेक रचनाएं पत्र-पत्रिकाओं में बराबर दिखाई देती हैं, पर नये ढंग की पैरोड़ी में अनुकरण मात्र नहीं रहता बल्कि किसी बात के अतिशयोक्तिपूर्ण कथन द्वारा वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की आलोचना की जाती है। इस प्रकार वह स्वतन्त्र रचना हो जाती है, किसी दूसरी रचना पर पूरी तरह निर्भर रहने वाली कृति नहीं। किसी दूसरी रचना के आधार पर लेखक एक बिलकुल नया निर्माण करता है। यह अवश्य है कि यदि अतिशयोक्ति संयत और मार्मिक न हो तो वह केवल मजाक हो जाती है, पैरोडी नहीं। प्रगतिवादी ढंग की पैरोडियों में अन्य पैरोडियों की भांति केवल किसी का उपहास करना उद्देश्य नहीं रहता वरन् सजग बुद्धि द्वारा प्रेरित सामाजिक व्यवस्था की आलोचना रहती है और उसका क्षेत्र अनिवार्यत: सम-सामयिक होता है, पर ऐसी अधिकांश रचनाएं बहुत तीक्ष्ण और स्पष्ट होती हैं, उनमें व्यंजना और संतुलन की कला कम दिखाई देती है।

अब थोड़ा छंद की योजना पर विचार कर लेना चाहिए। काव्य में छंदों का विधान नाद सौंदर्य की दृष्टि से किया जाता है। संगीततत्त्व के योग से भावानुकूल नाद उत्पन्नहोकर व्यंजित भावों को और तीव्र बना देता है, अतः छंदों का विधान इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। छंदोबद्ध रचना एक ओर तो श्रुतिमधुर होती है और दूसरी ओर भाव-संचार की मात्रा बढ़ाने में सहायक।

छंद

इस प्रकार सामाजिकता की दृष्टि से छंदों की योजना आवश्यक है। प्रगतिवादी कवि यदि सचमुच जन-मन का स्पर्श करना चाहते हैं तो उन्हें 'बँधी हुई लय के भिन्न भिन्न ढाँचों' से युक्त निर्दिष्ट छंदोंका ही व्यवहार करना होगा। छंदों के ये ढाँचे सदैव पुराने ही हों यह कोई आवश्यक नहीं। इसकी योजना में नवीन उद्भावनाओं का पूरा अवकाश बना हुआ है। पर यह आवश्यक है कि लय का उतार चढ़ाव ऐसा हो जिसे पाठक तुरंत समझ ले, उसे इसके लिए कवि के पठन-कौशल से परिचित होने की आवश्यकता न बनी रहे। काव्य के भीतर संगीत का जो विधान हुआ है वह इस दृष्टि से भी कि अपने पूर्व-अर्जित संस्कारों के सहारे पाठक किसी कविता के लय का पता स्वयं ही लगा कर उसका आनंद उठावे।

छंद-विधान के विषय में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात, जिस पर प्रगतिवादियों का ध्यान सबसे पहले और सब से अधिक जाना चाहिए था, यह है कि उन्हें यदि जनता के निकट पहुँचना है और उसपर प्रभाव डालना है तो लोकगीतों के लय को ग्रहण करने की ओर भी ध्यान देना होगा। संभवतः भारतेंदुयुग के कवियों ने इस ओर सबसे अधिक ध्यान दिया था। प्रतापनारायण मिश्र से लेकर श्रीधर पाटक तक इस तरह का पूरा प्रयास मिलता है, पर आगे उस परंपरा का ठीक निर्वाह नहीं हुआ। लोकगीतों के आधार पर बहुत ही मार्मिक छंद-विधान हो सकता है। लोकगीत लयप्रधान होते हैं जिनमें स्वर की प्रमुखता होती है। अब लय के स्थान पर मात्राओं की योजना के द्वारा नए छंदों की भी सृष्टि हो सकती है और उस लय को ज्यों का त्यों भी लिया जा सकता है।

थोड़े से प्रगतिवादी कवियों की कुछ रचनाओं में इस तरह का प्रयास अवश्य दिखाई देता है और कजली और बिरहा के लय पर कुछ रचनाएँ हुई हैं। रामविलास शर्मा का 'हाथी घोड़ा पालकी जै कन्हैया लाल की'

से प्रारंभ रचना लोक-प्रचलित लय के ही अनुसार है। पर इस विषय में इससे अधिक परिष्कार अपेक्षित है।

कुछ नए कवियों में आजकल अप्रचलित छंदों के व्यवहार का भी प्रयास दिखाई देता है, जैसे केदार के 'काटो काटो काटो करवो' में। मार्मिक छंद विधान की दृष्टि से नए कवियों में गिरिजाकुमार माथुर का प्रयत्न प्रशंसनीय है।

एक ओर तो जनता के निकट पहुँचने की बात कही जाती है और दूसरी ओर मुक्त छंदों की बाढ़ आ रही है। प्रगतिवादी कवि मुक्त छंदों का धुँआधार प्रयोग कर रहे हैं। छायावादयुग के अनेक सफल-असफल प्रयोगों के बाद मुक्त छंदों पर बहुत से लोगों ने हाथ आजमाया पर सफलता इसमें कम ही मिली। वस्तुतः मुक्त छंद की स्वच्छंदता में भी गति और यति का पूरा ध्यान रखना होता है। उसकी भी एक कला होती है। नए प्रयोक्ता अधिकतर इसका ध्यान नहीं रखते और परिणाम इसका यह होता है कि गद्य और उनके मुक्त छंद में कोई अंतर प्रतीत ही नहीं होता। प्रगतिवाद की दृष्टि से तो मुक्त छंदों का एक तरह से बहिष्कार ही होना चाहिए क्योंकि सर्वसामान्य तक इनकी पहुँच भी कठिन है। इसमें संदेह नहीं कि मुक्त छंदों का अनपेक्षित रूप में अधिक प्रयोग काव्यात्मकता का ह्रास ही है। औरों की बात तो छोड़िए, प्रसिद्ध कविगण भी इसमें कम ही सफल हो पाते है। अधिकांश रचनाओं में न तो गतियति का ही कोई ध्यान रहता है और न ध्वनि या स्वरपात की कोई काव्यानुरूप योजना दिखाई देती है। अनेक रचनाओं को ज्यों का त्यों या थोड़े हेर फेर के साथ गद्य में लिखा जा सकता है।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि मुक्त छंदों का व्यवहार व्यर्थ है क्योंकि कुछ सुंदर रचनाएँ इसमें अवश्य हुई हैं, और भाव तथा अर्थ की गति का, पंक्तियों के आकार के साथ साम्य बैठाने के कई उत्तम प्रयोग निराला और पंत ने किए हैं। इधर नरेन्द्रशर्मा और गिरिजा-

कुमार माथुर आदि नए कवियों ने भी कई अच्छी रचनाएँ मुक्त छंदों में की हैं। पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि बहुत समझ बूझ कर ही नए कवियों को इसे अपनाना चाहिए। लय की कोई सुनिश्चित प्रणाली जब छंद का स्थान ग्रहण करती है तभी मुक्त छंद प्रभाव निष्पन्न कर सकते हैं, और ऐसा होता कम दिखाई देता है।

सिद्धान्त रूप से कला के क्षेत्र में प्रगतिवादी कवियों का आदर्श यही है कि सरल अभिव्यक्ति-प्रणाली के द्वारा जनता के समीप पहुँचा जाय। इतना ही नहीं, वरन उनका यह भी मन्तव्य है कि जनता के लिए कला दैनिक जीवन में भी उपयोगी हो। इस में संदेह नहीं कि इस प्रकार के नवयुवक कवि नवीन मार्ग खोज निकालने के लिए सदा उत्साह दिखाते हैं। बुद्धि और हृदय को साथ साथ लेकर चलने वाले कई प्रतिभासम्पन्न कवि अपने-अपने नवीन प्रयोग भी कर रहे हैं, यह प्रसन्नता की बात है। पर यह कहना कि सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ अभिव्यक्तिप्रणाली में आमूल परिवर्तन हो और भाव की जगह बुद्धि तत्त्व की प्रतिष्ठा हो, उचित नहीं कहा जा सकता। पहली धारणा भारतीय साहित्य की सुदीर्घ परंपरा से चली आयी हुई उत्कृष्ट प्रणालियों के लाभ से हमें वंचित करने की घोषणा करती है और दूसरी काव्य के स्वरूप को ही विकृत करने का उपक्रम। जो हो, पर भाव और कला की रक्षा करते हुए सरलता लाने का जो उद्योग होगा वह अवश्य ही प्रशंसनीय होगा। नवीन कवियों से इसकी आशा की जा सकती है।

उपसंहार

"साहित्य किसी जाति की रक्षित वाणी की वह अखण्ड परंपरा है जो उसके जीवन के स्वतंत्र स्वरूप की रक्षा करती हुई जगत् की गति के अनुरूप उत्तरोत्तर उसका अंतर्विकास करती चलती है। उसके भीतर प्राचीन के साथ नवीन का इस मात्रा में और इस सफाई के साथ मेल होता चलता है कि उसके दीर्घ इतिहास में कालगत विभिन्नताओं के रहते हुए भी यहाँ से वहाँ तक एक ही वस्तु के प्रसार की प्रतीति होती है।"

—आचार्य रामचंद्र शुक्ल

उपर्युक्त पंक्तियों में साहित्य के प्रकृत स्वरूप के संबंध में जो निर्मल विचार संपुटित हैं उन्हीं की व्यापक मान्यताओं के अनुसार अपने वर्तमान काव्य-साहित्य पर विचार करने का उपक्रम प्रस्तुत प्रबंध में है। आचार्य शुक्ल के इस कथन में तीन महत्वपूर्ण तात्त्विक बातों का सन्निवेश हुआ है—

उपक्रम

(१) साहित्य का जीवन से घनिष्ठ संबंध है (२) युगप्रवृत्ति के अनुसार इसके बाहरी आकार-प्रकार में परिवर्तन होता चलता है और नए

युग के अनुरूप नए विचारों का ग्रहण भी (३) साहित्य के इतिहास में कालगत विभिन्नता होते हुए भी अपनी संस्कृति की अंतर्धारा आदि से अंत तक प्रवाहित होती रहती है, जिससे उसकी अपनी विशेषता का आभास बराबर मिलता रहता है।

प्रस्तुत प्रबंध में सबसे पहले यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि हमारा आधुनिक काव्य-साहित्य विभिन्न समयों में किस प्रकार लोक मंगल की भावना से संलग्न होकर चलता रहा। जहाँ उसका साथ लोक से छूट गया है वहाँ उसमें कृत्रिमता और अवसाद का रंग चढ़ गया है। किन परिस्थितियों के कारण प्रगतिवाद की धारा चल निकली है और उसपर अनपेक्षित बाहरी प्रभाव पड़ने के कारण उसका क्या स्वरूप हो गया है। इसके पश्चात् प्रगतिवाद के आंदोलन के स्वरूप का परिचय देने के साथ ही वर्तमान पश्चिमी काव्य-स्वरूप का संक्षेप में विवरण देकर उन कतिपय भ्रमों का निवारण करने का प्रयास किया गया है जो आज हमारे नवयुवक साहित्यिकों के बीच फैले दिखाई देते हैं। इसके पश्चात् भारतीय दृष्टि से काव्य का विवेचन करने के साथ ही प्रगतिवाद के मार्क्स-वादी काव्यसिद्धांत की आंशिक सत्यता स्वीकार करते हुए भी उन प्रवादों की आलोचना की गई है जो काव्य की मंगलमयी शुद्ध भावात्मक सत्ता के प्रतिकूल पड़ते हैं। फिर प्रगतिवादी काव्य के वर्तमान स्वरूप का विस्तृत परिचय देते हुए उन मार्गों का निर्देश किया गया है जिन्हें कवि-कर्म के सच्चे द्रष्टाओं ने निर्धारित किया है।

साहित्य का अनुशासन

इसमें संदेह नहीं कि प्रगतिवादी कवियों ने काव्य को समाज के बीच पूरी तरह अधिष्ठित करने का प्रयास किया है, पर वह प्रयास अधिकतर एक निश्चित राजनीतिक विचारधारा से आक्रांत होने के कारण अधिकतर साम्प्रदायिक अतः संकुचित हो गया है। जहाँतक उसमें राष्ट्रीयता और सामाजिक भावना के प्रसार की कामना लक्षित होती

है वहाँ तक वह निश्चय ही प्रशंसनीय है। हमारा मतभेद वहाँ होता है जहाँ साहित्य या कला को राजनीतिक अनुशासन में चलने को बाध्य किया जाता है। कला का भी एक अनुशासन होता है जो हमारी संवेदनाओं को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करने में सहायक होता है। पर कला का यह अनुशासन न तो सार्वभौम है जो एक समान सभी पर लागू किया जा सके और न तो यह जबर्दस्ती किसी पर लादा ही जा सकता है। इसमें लेखक की व्यक्तिगत प्रतिभा और रुचि तथा संस्कार का भी ध्यान रखना होता है और शैली और वस्तु की विविधता भी रखनी होती है क्योंकि यह वैविध्य भी कला का आकर्षण बनाए रखता है, उसे सौंदर्य प्रदान करता है। साहित्य या कला के इस विशेष प्रकार के अनुशासन के संबंध में यह भी ध्यान देने की बात है कि इसमें बराबर परिवर्तन होते रहते हैं—यह स्थिर नहीं है।

कवि की युगानुरूपता

यह बिलकुल ठीक है कि महत् काव्य में उन शाश्वत मनोभावों की व्यंजना होती है जो सर्वदा मानव-हृदय में व्याप्त रहते हैं और उस अक्षय सौंदर्य का उद्घाटन होता है जिसके दर्शन से युग-युग तक मनुष्य के हृदय में आनंद का संचार होता चलता है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि विभिन्न युगों की उन विशिष्ट परिस्थितियों से आविर्भूत प्रेरणाओं का विचार ही छोड़ दिया जाय जो तात्कालिक समस्याओं का समाधान करने में सहायक होती हैं। प्रत्येक सच्चा कवि अपने युग का कवि होता है। अपने आसपास की परिस्थितियों से वह निरंतर प्रभावित होता रहता है। यदि ऐसा न हो तो अपने समसामयिक पाठकों पर उसकी रचनाओं का प्रभाव ही नहीं पड़ सकता। तुलसी, सूर और घनआनंद बहुत बड़े कवि हो गए हैं और उनकी रचनाओं का आस्वाद आज भी हम आनंदपूर्वक करते हैं। पर क्या हममें से कोई यह भी चाहेगा कि मैथिलीशरणगुप्त, प्रसाद, पंत और निराला भी तुलसी, सूर

या घनआनंद की भांति दोहा, चौपाई, पद और कवित्त सवैयों में अलंकारों की छटा दिखाते हुए रचना करें? यदि ऐसा हो तो कोई इन नवीन कवियों को पढ़ना भी पसंद न करे। इनकी विशेषता इसी में है कि ये अपने ढंग की रचना करते हैं, किसी की नकल नहीं। और इनका अपना ढंग क्या है? इनका अपना ढंग अपने युग के अनुकूल है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार प्राचीन कवियों की पद्धति अपने युग के अनुरूप थी। समाज का बाहरी रंग-रूप, रहन सहन, आचार व्यवहार बदलता रहता है। सोचने विचारने, बोलने चालने के ढंग में भी परिवर्तन होता रहता है। इन सबका ध्यान रखकर किसी युग का कवि रचना करता है। यदि वह अपने युग में 'सामयिक' नहीं हुआ तो किसी समय उसका 'समयानुकूल' होना कठिन है। समकालीन समाज की गतिविधि का पूरा प्रभाव कवि पर पड़ना अवश्यम्भावी है।

समय की माँग

अपने युग के प्रति भी उसका उत्तरदायित्व होता है। हमारे देश का वर्तमान जीवन अनेकों खंडों में विभक्त होकर बिखर गया है, समाज अनेक अभावों और दारिद्रय की चिता पर दग्ध हो रहा है—ऐसी विषम परिस्थिति में हमें ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो निराशा के अंधकार का नाशकर उत्साह और कर्तव्य भावना का प्रकाश हमारे हृदय में फैलाए, अनिष्टकारी शक्तियों को नाश करने का भाव जगाए और हममें नव आशा एवं प्रफुल्लता का संचार करे। यह समय एकांत में बैठ कर बाँसुरी बजाने का नहीं है। केवल प्रिया की मधुर स्मृति में आँसू की झड़ी लगाना अथवा प्रियतम की छवि पर मुग्ध होकर मादक भावों की लड़ी तैयार करना वर्तमान् समय में देश और जाति के प्रति अकर्तव्य तो है ही, साहित्य के लिए भी अनिष्टकर है, क्योंकि काव्य या साहित्य किसी जाति की चेतना की उस उच्चतम अवस्था का प्रकाश है जिसमें उसके वास्तविक स्वरूप का प्रतिबिंब झलकता है।

यह तो हुई समय की माँग। साहित्य के शाश्वत स्वरूप पर भी दृष्टि ले जाने से यही प्रमाणित होता है कि (केवल) 'प्रेम की पुकार' स्थिर मंगल होने के कारण सदैव या एकतान वांछनीय नहीं है। गतिमती मांगलिकता 'कर्म की पुकार' भी चाहती है अतः साहित्य में दोनों की आवश्यकता रहती है। हमारा साहित्य दूसरे अंग से कुछ हीन सा हो गया था। अर्द्धनारीश्वर 'शिव' केवल 'गौरी' रह गया था; पुरुष नहीं दिखाई देता था, प्रकृति नटी ही नाच रही थी। अतः साहित्य के नित्य स्वरूप की माँग भी यही थी।

गतिमती मांगलिकता

पर साथ ही हमें इस बात पर भी ध्यान रखना होगा कि सब कर्म सबके लिए नहीं हैं। समाज सबको अलग-अलग कार्य सौंपता है जिससे व्यवस्था का कार्य सुचारु रूप से चलता रहे। समाज का विकास ही श्रमविभाजन (Division of Labour) के आधार पर हुआ है। प्रकृति ने भी इस प्रकार का कार्य-विभाजन कर रखा है। आँख से सुना नहीं, देखा जाता है। कान से देखा नहीं, सुना जाता है। नाक सूँघती है, मुँह बोलता है। इनके कार्यों में किसी प्रकार का विनिमय संभव नहीं। इसी प्रकार काव्य का काम है अनुभव कराना, हृदय को किसी भाव में लीन करना। वह जमीन नहीं खोदता, हथौड़े नहीं चलाता।

साहित्य-क्षेत्र में 'श्रमविभाजन'

कवि भावों का व्यवसायी है, राजनीतिज्ञ अपनी नीति के प्रचार का। कवि किसी भाव को जाग्रत् कर पाठक के रागात्मक तारों में झंकार उत्पन्न करता है और राजनीतिज्ञ लेक्चरबाजी कर अपना मत प्रचारित करता है। इसीलिए अंगरेजी काव्य की नूतन (मार्क्सवादी) शाखा के एक प्रसिद्ध कवि सेसिल डे लेविस ने कहा है कि 'कवि संवेदनशील

कवि और राजनीतिक

प्राणी है, नेता नहीं।'* कवि सत्य को उसके पूरे रूप में देखना चाहता है इसलिए राजनीतिज्ञ की भाँति कतिपय निश्चित नियमों की सीमाओं में वह बँधा नहीं रह सकता। वह उन्मुक्त होकर, बदलती रहनेवाली परिस्थितियों के बीच से नए-नए रूप में प्रकट होनेवाले सत्य का ग्रहण करता रहता है। जीवन को वह खुली आँखों से देखता है और उसका अनुभव करता है। सत्य को परखनेवाली किसी स्थिर नीति की कसौटी उसका काम नहीं चल सकता। कवि और राजनीतिज्ञ में यह एक बड़ा भारी अंतर है।

संप्रदाय विशेष की अन्य बातों पर ही अधिक ध्यान देने से काव्य का लक्ष्य पूर्ण नहीं होता। इससे जीवन का विस्तृत क्षेत्र भी आँखों के सामने आने से रह जाता है, हृदय का पूर्ण प्रसार जगत् के बीच नहीं हो पाता और शुद्ध भाव की वह उच्च भूमि भी नहीं प्राप्त होती जो जन मन को अपने में रमा ले। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि कविगण किसी राजनीतिक विचारधारा से परिचालित न होकर जीवन की मार्मिक दशाओं का स्वतः साक्षात्कार करें और पाठकों के सम्मुख उन्हें प्रत्यक्ष करें। जीवन बहुत व्यापक वस्तु है। किसी संप्रदाय की संकुचित भूमि पर पूरा-पूरा वह आ ही नहीं सकता। बिना सामंजस्य बुद्धि के जीवन विकलांग रहता है यह निश्चय पूर्वक समझ रखना चाहिए।

साहित्य की सार्थकता संपूर्ण जीवन को साथ लेकर चलने में है। वह हृदय का संतुलित व्यापार है, तर्काश्रयी बुद्धि का विलास मात्र नहीं। प्रगतिवादी काव्यधारा का विवेचन करते हुए इसी वास्तविकता की ओर ध्यान दिलाने का प्रयास किया गया है। जीवित और जाग्रत् जाति के इतिहास में साहित्य की अविच्छिन्न धारा मिलती है। प्रभविष्णुता

साहित्य की सार्थकता

* Poet is a sensitive instrument, not leader.

A Hope for Poetry, P. 136

का गुण उसमें सभी कालों में बना रहता है। अतः यदि विचारपूर्वक ऐतिहासिक दृष्टि से यह देखने का प्रयत्न किया जाय कि साहित्य में वह कौन-सी वस्तु है जो सभी कालों में बनी रहती है और वह क्या वस्तु है जिसका महत्त्व केवल सामयिक रहा है तो ऐसा करने से साहित्य के विषय में एक ऐसी निर्मल विचारधारा प्राप्त होगी जो वास्तविक पथ का निर्देश करेगी।

किसी नवीन वस्तु को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि हमें इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि वह वस्तु हमारी प्रकृति के अनुकूल कितनी पड़ती है। नवीन वस्तु को अपने अनुकूल बनाकर पचा लेने की क्षमता भी हमें अपने में लानी होगी। जिन विदेशी प्रवृत्तियों का ग्रहण किया जाय उन्हें सच्ची अनुभूति के माध्यम से ही। "'प्रगतिशील' साहित्य के लिए आवश्यकता यही नहीं है कि वह नई विचारणा को लेकर साहित्य के बगीचे में इस प्रकार लगा दे कि वह चार दिन में ही सूख जाय। आवश्यकता यह भी है कि वह अपनी विचार-लता को कला के संजीवन-रस से सिंचित करे और उसे उपवन के अन्य सुन्दर वृक्षों और बेलियों के साथ लहलहाने योग्य बनावे।"†

अपनी धारणा को उचित-अनुचित सभी प्रकार से हठपूर्वक मनवाने का आग्रह लेखक को साहित्य के क्षेत्र से बाहर ला पटकता है। कोई सज्जन यह घोषणा करते हैं कि काव्य की भावुकता का समय गया, अब बौद्धिकता का जमाना आया है। किसी महाशय की पुकार है कि 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' के पंतजी में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। यह तब होता जब वे कवि न रहकर मार्क्सवादी कामरेड बन जाते। कोई महापुरुष लेक्चर दे रहे हैं कि मैं जो कहता हूँ वही ठीक है,

---

† पूना साहित्य सम्मेलन के साहित्य परिषद के सभापति-पद से श्री नंददुलारे वाजपेयी द्वारा दिए गए भाषण से।

दूसरों की बातें 'अविकसित मस्तिष्क' 'रुग्ण हृदय' और 'साहित्यिक विचार-हीनता' का द्योतन करती हैं। प्रलाप यहीं नहीं बंद होता। उसी जोश में आगे कह जाते हैं कि 'फाँसी का झूला झूल गया सरदार भगतसिंह' अथवा 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' वाले गीत साहित्य की निधियाँ हैं और नरेन्द्र शर्मा के 'लालनिशान' के गीतों में खूब रसपरिपाक हुआ है।

ऐसे निरर्थक वाक्यों पर टीकाटिप्पणी करना व्यर्थ है। पर इतना निवेदन अवश्य किया जा सकता है कि इस प्रकार की हलकी भावना साहित्य का स्वरूप समझने में किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकती। साहित्य के लिए आवेशमयी भावुकता ही पर्याप्त नहीं है उसमें जीवन के और गंभीर तत्वों का सन्निवेश होता है। सामयिक रचनाओं का अपना महत्व है, इससे कोई इनकार नहीं करता पर उनमें से बहुत थोड़ी ही साहित्य की संज्ञा पाती हैं। सामयिक रचनाओं में से अधिकांश का वही स्थान है जो समाचार पत्रों के विशिष्ट समाचारों या प्रभावोत्पादक टिप्पणियों का। सभी को साहित्य क्षेत्र में घसीटने का उद्योग कोई अर्थ नहीं रखता। साहित्य का उद्देश्य, विचारणा और विधान गंभीर होते हैं।

साहित्य में अवसरवादिता

अवसरवादिता का खेल साहित्य के भीतर नहीं चल सकता। कुछ दिन पहले तक जो कवि और लेखक नये प्रगतिवादियों के निकट पलायनवादी थे वे अब 'अपने समय के प्रगतिवादी' घोषित किये जाने लगे हैं। उनकी महत्ता को स्वीकार करना तो अच्छी बात है, कम से कम इससे यह पता तो चलता ही है कि साहित्य का स्वरूप समझ में आने लगा है। पर उन लेखकों और कवियों की रचनाओं से अपने मतलब के उद्धरण देकर, बिना पूर्वापर विचार किये, यह कहना कि इससे रचयिता की प्रगतिवादी मनोवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, साहित्यिक अपराध है।

अवसरवादिता के खेलका एक तमाशा देखिए ! एक सज्जन कह रहे हैं कि 'कामायनी' से हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को स्फूर्ति मिली। कैसी स्फूर्ति मिली ? किस प्रकार मिली ? प्रत्यक्ष या परोक्ष ? यह भी तो बताएँ।

इस प्रकार की अनर्गल धारणाओं का कारण क्या है, इसका पता लगाना कुछ कठिन नहीं। मार्क्सवादी संप्रदाय की बातों को ज्यों का त्यों साहित्य पर घटा देने से ही इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न होता है। अच्छा अब कामायनी को आंदोलन के लिए स्फूर्तिदायक कैसे कहा गया यह देखिए। मार्क्सवादियों की धारणा है कि प्रत्येक श्रेष्ठ रचना अनिवार्यतः कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा देने वाली होती है। इधर, साहित्य में कामायनी का महत्त्व निश्चित हो गया है। मार्क्सवादी देखता है कि साहित्यिकों की दृष्टि में यह रचना जब उच्चकोटि की है तब अपने सम्प्रदाय की कसौटी पर भी इसे खरी उतरना चाहिए। बस बोल उठा 'कामायनी से हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को स्फूर्ति नहीं मिली यह कहने का साहस कौन कर सकता है ?' सचमुच ऐसी बातें बनाने के लिए बड़े साहस (!) की आवश्यकता है।

समकालीन परिस्थितियाँ और साहित्य

समकालीन परिस्थितियों के साथ साहित्य की प्रत्येक रचना जकड़ी हुई है—इस प्रकार के मत के कारण भी उसकी परीक्षा करने में भ्रम उत्पन्न होता है। पहले कहीं कहा जा चुका है कि साहित्य प्रातिबिम्बिक सत्ता है। और प्रतिबिंब होता है बाह्य और आंतरिक जगत् का। आंतरिक जगत् अर्थात् मनोजगत्। मनोजगत् की मंगलमयी भूमिका में नैत्यिक सौंदर्य की जब प्रतिष्ठा होती है तब उसी का प्रतिबिम्ब किसी रचना को श्रेष्ठ बनाता है। उच्चकोटि की रचना में, स्थूल और बहिरंग परिस्थितियों के प्रभाव के साथ, इसी सार्वकालिक तत्त्व का विनियोग होता है। इसलिए केवल युग के बाहरी स्थूल प्रभावों से ही काव्य की परख नहीं होती। ऐसा कहने से वही तमाशा खड़ा

होगा जिसे कामायनी के प्रसंग में ऊपर देख आए हैं।

वर्तमान समय में चारों ओर दुःख दर्द, स्वार्थपरता, विषमता और निराशा ही दृष्टिगोचर हो रही है। इन सब का आभास इस युग की रचना में अवश्य मिलेगा। पर श्रेष्ठ रचनाओं में हर्ष, प्रफुल्लता, आशामयता, आत्मविस्तार आदि का भी संदेश मिलता है। यह कवि के मनोजगत् की उस उच्च अवस्था का प्रतिबिम्ब ही है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। अन्धकारमय परिस्थितियों के बीच भी मंगल-ज्योति की जो किरण महत् साहित्यिक कृति में चमक उठती है वही इस बात का प्रमाण है कि काव्य सदा, सभी अवस्थाओं में, केवल समयुगीन परिस्थितियों से ही नहीं घिरा रहता, ऊपर भी उठता है। और यह समझ लेने पर सभी कृतियों को आंदोलन की प्रेरणा देने वाली सिद्ध करके सब धान बाइस पसेरी तौलने की किसी की हिम्मत न होगी।

राजनीतिक कसौटी और साहित्य

यहीं पर यह भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि मार्क्स या लेनिन राजनीतिक पुरुष हैं। उन्होंने महत् कार्य किए हैं, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि उसका क्षेत्र राजनीति ही है, साहित्य नहीं। उन्होंने यदाकदा बातचीत, पत्र या अन्य विषय की रचनाओं के बीच में यहाँ वहाँ साहित्य पर अपने कुछ उद्गार प्रकट कर दिए हैं। उन कतिपय साहित्य विषयक उद्गारों को सदा सूत्र मानकर चलना कुछ बुद्धिमानी की बात नहीं है। साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता है। वह किसी राजनीतिक सिद्धान्त की पूर्ति का साधन मात्र कदापि नहीं। इस प्रकार के प्रभावों से सतर्क रहने की बड़ी आवश्यकता है। हमारी संपूर्ण सांस्कृतिक मर्यादा को पराभूत करके इस प्रकार के मत-मतान्तरों का प्रभाव कहीं हमारे नवीन साहित्यकारों की स्वाभाविक उद्भावना शक्ति को पंगु न बना दे, इसका विचार होना चाहिए।

यह सब कहने का तात्पर्य इतना ही है कि राजनीतिक विचारों की कसौटी पर काव्य की परीक्षा करना अथवा उसके आदर्शों पर रचना करने का उपदेश देना साहित्यिक विकास का पथ अवरुद्ध करना है। जीवन और जगत् को खुली आँख से देखकर उसके पूरे स्वरूप से प्रेरणा ग्रहण करना ही साहित्यिक का धर्म है। जीवन की जो कठोर परिस्थितियाँ हमारे सामने आ रही हैं उनका व्यापक प्रभाव वर्तमान हिन्दी साहित्य पर पड़ रहा है, यह बड़े संतोष की बात है। हमारे सभी विशिष्ट कवि इससे प्रभावित होते दिखाई दे रहे हैं। महादेवी जी ऐसी एकान्तप्रिय और रहस्यवादी कवयित्री भी मनोरम कल्पनाओं से रंजित और मधुर भावनाओं के कलरव से मुखरित एकांत से निकलकर यथार्थ जीवन की विकृतियों पर बड़ी सहृदयता के साथ दृष्टि डाल रही हैं। 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' नामक गद्य पुस्तकों में उन्होंने निम्नवर्ग के कुछ अत्यन्त मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए हैं। बंगाल के अकाल का उनपर कितना गहरा प्रभाव पड़ा था यह उनके तद्‌विषयक उद्योगों से स्पष्ट है। इतना ही नहीं, उन्होंने अकालग्रस्त बंगाल की करुण दशा का वर्णन करते समय हिंदी के लेखकों को संबोधित कर लिखा था—"इस दुर्भिक्ष की ज्वाला का स्पर्श करके हमारे कलाकारों की लेखनी-तूली यदि स्वर्ण न बन सकी तो उसे राख हो जाना पड़ेगा।" ❀ दूसरी ओर देखिए तो निराला जी आजकल दीन-जनों के नपे-तुले छोटे-छोटे पद्यात्मक रेखाचित्र प्रस्तुत करने में लगे हुए हैं। इन छोटे-छोटे पदों में व्यंगात्मकता की प्रवृत्ति भी अनेक स्थलों पर पूरी मात्रा में विद्यमान है। श्री सियारामशरणगुप्त की 'दैनिकी' में संकलित रचनाओं में युद्धकालीन दशा पर अनेक रचनाएँ सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की गयी हैं। दिनकर जी के कुरुक्षेत्र, गुप्त जी की इधर की कुछ रचनाओं में, और अन्य अधि-

---

❀ बंगदर्शन—अपनी बात; पृष्ठ ७

कांश उच्चकोटि के कवियों की कृतियों में भी युग की पूरी छाप दिखाई पड़ रही है।

पर प्रगतिवाद के लिए इतना पर्याप्त नहीं है, पिछले पृष्ठों से इसका पूरा पता चल गया होगा। मार्क्सवादी दृष्टि इसके लिए आवश्यक है। संक्षेप में, इसी स्थूल भेद के अनुसार प्रगतिवादी कवि अन्य कवियों से अलग हो जाते हैं। इसी प्रसंग में इस प्रकार के कतिपय कवियों की कुछ मोटी विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण दे देना आवश्यक प्रतीत होता है।

श्री सुमित्रानंदन पंत हिन्दी-काव्य में प्रगतिवाद के सूत्रपात-कर्ताओं में से हैं। छायावाद की ओर से प्रगतिवादी आन्दोलन की ओर इनके मुड़ जाने से नवयुवक कवियों पर बहुत प्रभाव पड़ा और वे भी उस ओर प्रवृत्त हुए। मार्क्सवाद की ओर पंत जी का झुकाव सामूहिक हित की दृष्टि से है। व्यक्तिगत रूप से गांधीवाद से भी ये प्रभावित प्रतीत होते हैं और भारतीय आत्मवाद का भी इन पर गहरा रंग है। मार्क्सवादी आत्मा की सत्ता नहीं मानते। 'पदार्थ' को ही सब कुछ समझते हैं। पर पंत जी 'पदार्थ' को ही सब कुछ नहीं स्वीकार करते और संकीर्ण भौतिकवादियों से असहमति प्रकट करते हैं। 'जहाँ आत्म-दर्शन अनादि से समासीन' है उस स्वर्ग की प्राप्ति के लिए ये भौतिक-वाद को साधन मात्र मानते हैं। स्पष्ट है कि मार्क्स के भौतिकवाद की ओर इनका झुकाव वर्तमान विषमता के उन्मूलन की आशा से ही है। इस प्रकार ये आत्मा और जगत् का सामञ्जस्य ही घटित करना चाहते हैं। भौतिकता की जो उपेक्षा हुई है उसका परिहारमात्र इनका आशय प्रतीत होता है, कुछ उसकी प्रभुता स्थापित करना नहीं। पंत जी प्रगतिवाद के भीतर भी आकर अपना सौंदर्यवादी रूप बनाए हुए हैं। युगवाणी और ग्राम्या में जो सबसे पड़ा परिवर्तन उनमें हुआ है वह है यथार्थोन्मुखता। कल्पना के लोक से उतर कर यथार्थजगत् के वैषम्य

और उसकी पीड़ा का अनुभव करने के साथ ही निम्नवर्गीय जन-जीवन के नानाविध चित्र आँकने का प्रयास इन्होंने किया है। यद्यपि 'युगवाणी' की अधिक रचनाएँ सिद्धान्त-प्रतिपादक ही हैं पर 'ग्राम्या' की रचनाओं में जन-जीवन के हर्ष-विषाद और सुख-दुःख के मार्मिक रूप कवि ने उपस्थित किए हैं। जो वास्तविकता है उसको उसी रूप में देखने का प्रयत्न किया है। अब तक प्रायः कवियों ने 'भारतमाता' को भावुकतामयी दृष्टि से ही देखा था, अधिकतर उसके प्राकृतिक सौंदर्य पर ही जाकर उनकी दृष्टि टिक रहती थी पर पन्त जी ने उसका दुःख-दर्द और अज्ञान से भरा ग्रामीण रूप भी दिखाया।

भौतिकता की उपेक्षा न होनी चाहिए; वास्तविक जगत् के कठोर सत्यों से पलायन अनिष्टकर है ; यह सब तो कहा पर साम्यवाद की स्थापना के लिए कोई निश्चित योजना प्रस्तुत करने का प्रयास इन्होंने नहीं किया और न वर्ग-संघर्ष आदि उपायावलंबों का ही उपदेश दिया। यह सब उनके कवि-रूप के सर्वथा अनुकूल हुआ है। 'ग्राम्या' में यद्यपि इनकी बौद्धिक दृष्टि भी है पर विषाद की कंटकाकीर्ण भूमि से भी इन्होंने बड़े कौशल से सौंदर्य-पुष्पों का चयन करके सामने रखा है। इससे इनका कविरूप भी बना रह गया है और भावी की सुखाशयता भी झलक जाती है।

'युगवाणी' की रचनाओं में जो गद्यात्मक शुष्कता आ गई है उसका कारण विचार-प्रतिपादन की प्रधानता ही है। इसीलिए इन रचनाओं को 'गीत-गद्य' कहा गया है। पर ग्राम्या की कृतियों में मूर्ति-विधायिनी कल्पना के प्रसाद से भावसंपदा की न्यूनता पर सहसा दृष्टि नहीं जा पाती। विभावपक्ष का सजीव चित्रण मात्र भी काव्यानंद प्रदान करता ही है। प्रगतिवादी रास्ता पकड़ने के बाद पंतजी ने निम्नवर्गीय जीवन को ही अपना क्षेत्र चुना पर प्रकृति प्रेम इनका बराबर बना रहा। शैली की दृष्टि से पहले की अपेक्षा कोई विशेष परिवर्तन इनमें नहीं लक्षित

होता। सिद्धांत रूप से सरलता और सीधापन लाने की आकांक्षा प्रकट करने पर भी स्वयं अपनी रचनाओं में ये इस दृष्टि से कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं ला सके। इनकी कुछ विचारप्रधान प्रगतिवादी रचनाओं पर विचार करने से ऐसा लगता है कि कवि के मन में किसी विशेष राजनीतिक मत और काव्यानुरूप भावमयता का द्वन्द्व चल रहा है और उसका कवि रूप अपने प्रकाशन के लिए बार-बार जोर मार रहा है।

'पल्लव' के कवि के रूप में पंत जी छायावाद के प्रथम उन्नायकों में दिखाई देते हैं और 'युगवाणी' के कवि के रूप में प्रगतिवाद के प्रथम पुरस्कर्ताओं में। 'स्वर्ण किरण' और उसके बाद की रचनाओं में उन्होंने एक आध्यात्मिक संस्कृति की चेतना जगाने का प्रयास किया है। इन रचनाओं में मनुष्य के आत्मिक विकास पर अधिक जोर दिया गया है। कवि के विचार से जग में बहिर्चेतना जाग्रत है पर अंतर्मानव निद्रित है; बाह्य परिस्थितियाँ जीवित हैं पर अंतर्मानव मृत है। संसार की अशांति का कारण है दर्शन और विज्ञान का समन्वय न होना। चारों ओर फैली हुई ग्लानि और पराभव की भावना तथा अमंगल पर चेतन मानव मनःशक्ति एकत्र कर विजय प्राप्त कर सकते हैं।

समाज के भीतर व्यक्ति का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है इसलिए कमनीय संसार वही है जिसमें आत्मोन्नति का पूरा अवसर हो और 'भू जन' श्रमप्रिय हों। कवि ने व्यक्ति का महत्त्व तो प्रतिपादित किया है पर उसका समाज-निरपेक्ष निर्बाध विकास नहीं दिखाया है। उसकी भावना व्यक्ति और समाज में समन्वय स्थापित करना चाहती है।

कवि का यह दृढ़ विश्वास है कि 'भावसत्य' और 'वस्तुसत्य' में सामंजस्य किये बिना संसार में आनंद की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। पर समन्वय की कामना करते हुए वह भौतिकता को भूलता नहीं—

संस्कृति रे परिहास, क्षुधा से यदि जन कवलित।
कला कल्पना, जो कुटुम्ब तन नग्न, गृहरहित॥

—**स्वर्णकिरण**—पृ० १११

पंतजी की इधर की रचनाओं में चाहे आध्यात्मिकता का रंग अधिक हो और कवि की सौंदर्य चेतना का उनमें पुनरुत्थान दिखाई दे पर सामाजिक संबंधभावना उनकी बराबर बनी हुई है। यह कह कर कि पंतजी मार्क्सवादी नहीं है, उनकी निंदापूर्ण आलोचना करना निरर्थक है क्योंकि उन्होंने मार्क्सवादी होने का दावा कभी किया ही नहीं। उनकी प्रतिभा किसी स्थूल अनुशासन की चहारदिवारी में यदि बंदी नहीं होना चाहती तो इसके लिए उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। चाहे इस समय आध्यात्मिकता की ओर उनका अधिक झुकाव हो गया हो पर प्रगतिवाद के प्रादुर्भावकाल में प्रगतिवादी काव्यधारा को उनसे जो बल मिला उसे किसी प्रकार इतिहास भुला नहीं सकता।

दिनकर को पढ़ना यौवन के उल्लास, आवेश, पौरुष और प्राणमयता का अनुभव करना है। उनकी राष्ट्रीयता, उनकी पहले की अल्हड़ क्रान्तिवादिता और बाद की विवेकपूर्ण परिवर्त्तनकामना, उनकी युवकोचित हुंकार—सब में एक ऐसी जीवनमयता है जो बराबर आकृष्ट करती है। दिनकर हिंदी के सजग राष्ट्रीय कवि हैं। समाज के अभाव-जर्जर दरिद्र निम्नवर्ग का हाहाकार, उसकी निराशा और आशा, उसका रुदन और आक्रोश इनकी कविताओं में भलीभांति व्यंजित हुआ है। साम्राज्यवाद और शोषक-वर्ग की तीव्र आलोचना दिनकर की रचनाओं में बराबर दिखाई देती है। किसानों और श्रमिकों की दीनहीन दशा का प्रभावकारी चित्रण और उनकी मनोव्यथा की मार्मिक व्यंजना दिनकर की विशेषता है।

दिनकर की राष्ट्रीयता कई तरह से व्यक्त हुई है। अतीत के गौरवपूर्ण इतिहास का स्मरण दिलाकर और तत्कालीन वैभव के संकेत देकर विदेशी शासन में सभी तरह से दबी हुई जनता के मन की हीनभावना दूर कर आत्मविश्वास जगाने का प्रयास इन्होंने बहुत अच्छी तरह किया है। पराधीनता की शृंखला को तोड़ने के लिए इनके उद्बोधन बहुत ही फड़कते हुए और मर्मस्पर्शी हुए हैं। अपने चारों ओर फैली

दरिद्रता, पीड़ा और असहायता को दूर करने के लिए आकुल होकर दिनकर ने अपनी पूरी शक्ति लगा कर क्रान्ति का आह्वान किया था। चूँकि वह आह्वान क्षुब्ध हृदय की व्याकुल पुकार थी इसलिए उसमें संयम का न होना कुछ बहुत अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता। दिनकर की क्रान्ति विपथगा है और उसका जो रौद्र रूप उन्होंने खींचा है वह बहुत ही आतंककारी है और उसमें ध्वंसात्मक प्रवृत्ति इतनी प्रखर हो उठी है कि अनेक आलोचकों को उसमें भारी अराजकता और अधिनायकशाही के तत्त्वों का आभास मिलने लगा। पर वास्तव में है वह व्यथित और क्षुब्ध युवक हृदय का विस्फोटक उद्गार ही। अब क्रान्ति का ऐसा विनाशकारी स्वर दिनकर की कविताओं में नहीं है।

यद्यपि ये विश्वबंधुत्व की भावना के विरोधी नहीं हैं पर राष्ट्रीयता को अंतर्राष्ट्रीयता की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। इनके विचार से 'अंतर्राष्ट्रीयता की अनुचित उपासना से हमारी राष्ट्रीय शक्ति का ह्रास होगा।'

दिनकर 'जीवन का सबसे बड़ा सत्य वर्तमान' को मानते हैं अतः स्वाभाविक ही है कि इनकी रचनाओं में सामयिक परिस्थितियों का पूरा पूरा प्रभाव दिखाई दे। निम्नवर्ग की विपन्नता का इनकी रचनाओं में बहुत ही प्रभावमय वर्णन हुआ है। कृषकों पर जमीदारों और महाजनों तथा श्रमिकों पर पूँजीपति मिलमालिकों के अत्याचार और उसके प्रभाव की मार्मिक व्यंजना कर पाठक के मन में इन सबकी तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न करना दिनकर के काव्य की एक विशेषता है। सांप्रदायिकता, अकाल, स्वाधीनता प्राप्ति के बाद देश के सामने आई हुई अनेक समस्याओं आदि पर इन्होंने बड़ी सतर्कता से दृष्टि रखी है। पर इतना होने पर भी ये साहित्य को 'राजनीति का अनुचर' नहीं मानते बल्कि 'उससे भिन्न एक स्वतंत्र देवता' के रूप में स्वीकार करते हैं जिसे यह 'पूरा अधिकार है कि जीवन के विशाल क्षेत्र में से वह अपने काम के योग्य

वे सभी द्रव्य उठा ले जिन्हें राजनीति अपने काम में लाती है।'

'कुरुक्षेत्र' नामक विचारात्मक काव्य में युद्ध की समस्या को केंद्र में रखकर दिनकर ने समकालीन समस्याओं पर विचार किया है। महाभारत संग्राम के पश्चात् कुरुक्षेत्र में असंख्य मनुष्यों का संहार देखकर युधिष्ठिर को पश्चात्ताप होता है और वे शरशैय्याशायी भीष्मपितामह के यहाँ जाकर अपनी मनोव्यथा और विरागभावना प्रकट करते हैं। भीष्म युद्ध के कारण और स्वरूप का विवेचन करके उन्हें विराग की निस्सारता बतलाते और प्रवृत्ति मार्ग या कर्ममार्ग ग्रहण करने का उपदेश देते हैं। प्रश्न है कि पापी कौन है? मनुष्य के अधिकारों का अपहरण करनेवाला या अन्याय करनेवाले का सीस उड़ाने वाला। कवि के विचार से हिंसा का पथ उचित नहीं, पर जब अत्याचारी के नृशंस कर्मों से लोक पीड़ित हो उठे तो उस अन्यायी का वध करने में ही सच्ची वीरता है। ऐसा प्रतीत होता है कि गांधी जी की अहिंसा व्यक्तिगत जीवन में सामान्यतः कवि को अस्वीकार नहीं है पर वर्तमान परिस्थिति में जब कि चारों ओर साम्राज्यवादी शोषकों का भयंकर कुचक्र चल रहा है, हिंसा के द्वारा ही आततायियों का दमन उसे व्यावहारिक प्रतीत हो रहा है। पराजित जाति के लिए वह असहिष्णुता और क्षमाशीलता को अभिशाप समझता है। युद्ध कुछ व्यक्तियों की स्वार्थपरता का परिणाम है पर जब तक मनुष्य मनुष्य के बीच की भेदभावना समाप्त नहीं होती तब तक संसार में युद्ध चलते ही रहेंगे। सारी अशांति और अत्याचार के मूल में है मानव-हृदय की उदात्त वृत्तियों का दब जाना और स्वार्थबुद्धि का अतिविस्तार। अतः 'समताविधायक ज्ञान' और 'स्नेह-सिंचित न्याय' के आधार पर ही विश्व का नवनिर्माण कल्याणप्रद होगा।

भारत की समाजवादी विचारधारा को दिनकर की पूरी सहानुभूति प्राप्त है पर उसका बंधन उनकी रचनाओं ने स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने स्पष्टतः साहित्य पर किसी भी राजनीतिक दल के शासन का कड़ा

विरोध किया है। आर्थिक वैषम्य और शोषण की प्रक्रिया तथा उसके प्रभाव पर कवि की सजग दृष्टि अवश्य है पर किसी राजनीतिक दल की बौद्धिक धारणाओं को चित्रित करने का बीड़ा उसने नहीं उठाया है। कोई राजनीतिक धारणा बनाए रखना या किसी राजनीतिक मत के साथ सहानुभूति रखना एक बात है और किसी दल की दासता स्वीकार कर लेना दूसरी बात।

दिनकर ने जन-मन के हृदय को स्पर्श करने और जनता को जगाने की सदा चेष्टा की है। मानव की महत्ता और अप्रतिहत शक्ति में उनकी अटल आस्था है। उनके काव्य में एक ओर यदि दुखी मानवता और निम्नवर्ग का चीत्कार है तो दूसरी ओर अपराजेय मनोबलशाली मानव की हुंकार और भावी का आशापूर्ण संकेत भी।

जिस प्रकार इनकी रचनाओं का भावपक्ष काव्योचित है उसी प्रकार कलापक्ष भी समृद्ध है। हिंदी के प्रगतिवादी कवियों में, प्रगतिवादी (मार्क्सीय) सिद्धान्तों के अनेक व्यावहारिक पहलुओं से तीव्र विरोध रखने वाले इस कवि का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

नरेन्द्र शर्मा पहले पहल रोमांटिक कवि के रूप में ही सामने आए थे। इधर नए रास्ते पर चलकर इन्होंने सामयिक समस्याओं पर रचनाएँ कीं। मजदूरों के लिए इन्होंने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से कई 'जनगीत' लिखे हैं जिनमें शैली की दृष्टि से गेयता, प्रवाह और सरलता पर्याप्त मात्रा में मिलती है। पंतजी का इन पर पूरा प्रभाव है। इनके विकास की गति भी पंतजी के ही समान है। सामाजिक रचनाओं के साथ अन्य प्रकार की रचनाएँ भी इनकी निकलती रहती हैं। इनकी प्रगतिवादी रचनाओं में सामयिक परिस्थितियों के प्रति इनकी जागरूकता का पूरा-पूरा परिचय मिलता है। ऐसी रचनाओं में जहाँ नीतिप्रतिपादन का अवसर आता है वहाँ अपनी बातें खूब समझा-बुझाकर कहने में ये कुशल हैं। जीवन के मधुरपक्ष पर जब इनकी दृष्टि जाती है तब वह

अनेक ऐसे कोमल स्थल खोज निकालती है जो अत्यन्त रमणीय प्रतीत होते हैं। नए कवियों में इनका ऊँचा स्थान है।

शिवमंगलसिंह 'सुमन' की एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि इनकी रचनाएँ कहीं भी दुरूह नहीं होतीं। सरलता इनमें सर्वत्र मिलेगी—भाव में, शब्द-चयन में, अभिव्यक्ति-प्रणाली में—कहीं भी उलझन नहीं दिखाई देती। मुहावरों का इन्होंने अच्छा प्रयोग किया है। जिन शब्दों का सामान्यतः बातचीत में प्रयोग होता है उन्हें ये बेखटके अपनी रचना में ला बैठाते हैं। कभी-कभी व्यक्तिगत जीवन से संबद्ध विषय लेने पर भी लोकहित पर इनका बराबर ध्यान रहता है। कुछ लोगों का कहना है कि शैली की दृष्टि से इनकी कविताएँ बहुत लंबी हो जाती हैं और उनमें कभी-कभी वह कसावट नहीं मिलती जो भावाभिव्यंजन-प्रणाली में होनी चाहिए। पर जब कभी ऐसा होता है तब केवल इसीलिए कि कवि अपनी बात को बहुत ही स्पष्ट करके समझाना चाहता है। युद्ध-काल में लिखे गए इनके कुछ सामयिक गीत और इधर की कुछ उत्साहप्रवर्द्धक लम्बी रचनाएँ विशेष प्रशंसित हुई हैं। सुमन जी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि शक्ति, उत्साह और आशा का संदेश ये बराबर देते रहते हैं और किसी प्रकार की परिस्थिति के सम्मुख हार मानना नहीं जानते। जीवन के उत्थान में इनकी अटल आस्था है। देश-विदेश के राजनीतिक और सामाजिक घटनाचक्र पर ये बराबर सतर्क दृष्टि रखते हैं।

रामेश्वरशुक्ल 'अंचल' ने छायावाद की सूक्ष्मता के विरोध में शरीरी प्रेम और यौवन का संदेश लेकर काव्यक्षेत्र में प्रवेश किया था। इनका वह रूप अब भी वैसा ही बना हुआ है। ये मूलतः आवेशमयी भावुकता के कवि हैं। इनकी रचनाओं में सर्वत्र आवेश की वेगमयता दिखाई देती है। जीवन की किसी भी दशा को ये आवेगभरी जवानी की आँखों से ही देखते हैं। यह इनकी बड़ी विशेषता है। अंचल जी

की अधिकांश रचनाओं में उर्दू की पूरी रवानी है, जो पढ़ने में बड़ी अच्छी लगती है। दलित-पीड़ित वर्ग का दुःखदर्द, रोष और उत्साह इनके द्वारा बड़ी ओजपूर्ण शब्दावली में व्यक्त हुआ है। इनकी प्रगतिवादी रचनाओं में दीनजनों की अवस्था व्यक्त होती रहती है और वर्तमान असंगतियों के नाश के लिए आकुलता। अंचल जी की प्रतिभा यदि कुछ और संयत हो जाय तो और भी उच्चकोटि की कृतियाँ सामने आएँ। इन्होंने समर्थ काव्य-प्रतिभा पाई है।

केदारनाथ अग्रवाल अपने ढंग के अकेले ही कवि हैं। इन्होंने अपनी नवीन शैली स्वयं निर्मित की है। ऐसा मालूम होता है कि ये 'भाव चाहिये साँच' को ही माननेवाले हैं, अभिव्यक्ति का ढंग चाहे अटपटा भी क्यों न हो जाय। इन्होंने अधिकतर मुक्त छंद में छोटी-छोटी रचनाएँ लिखी हैं। कोई एक भाव, एक विचार, एक चित्र या एक कथा का आभास देनेवाला प्रसंग ये ले लेते हैं। और व्यंजनापूर्ण ढंग से उसे व्यक्त करते हैं। निम्नवर्ग के दैनिक जीवन के बड़े ही व्यंजक छोटे-छोटे रेखाचित्र इन्होंने प्रस्तुत किए हैं। अधिकतर इनकी रचना के विषय किसान-मजदूरों का ही जीवन होता है। कभी कभी उच्च या शासक वर्ग के मनोभावों और कार्यकलापों को भी, थोड़े में, व्यंगात्मक ढंग से सामने लाने का प्रयास करते हैं। प्रतीकात्मकता भी इनकी रचनाओं में कहीं कहीं मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि केदारनाथजी किसी भाव, विचार या चित्र को ज्यों का त्यों बिना किसी परिष्कार के रख देना ही अलम् मानते हैं। उसको मार्मिक ढंग से, सुंदर रूप में व्यक्त करने का प्रयास नहीं करते। इसीलिए बहुत से कविता-पाठक इनकी कुछ रचनाओं के विषय में शंका करते हैं—'यह कविता है !' जो हो पर इसमें संदेह नहीं कि इन्होंने कुछ व्यंजनापूर्ण लघु रचनाएँ प्रदान की हैं। इनमें एक ऐसी प्रतिभा है जिसका स्वतंत्र विकास हो रहा है।

इन सबके अतिरिक्त और भी अनेक नवयुवक कवि हैं जिनका

अच्छा विकास हो रहा है? ऐसे कवियों में भारतभूषण अग्रवाल, नेमिचन्द्र, मुक्तिबोध, रांगेय राघव और नागार्जुन आदि आते हैं। कुछ कवि ऐसे हैं जो पूरे प्रगतिवादी तो नहीं हैं पर जिन्होंने नए ढंग की अनेक मार्मिक रचनाएँ की हैं। इस प्रकार के कवियों में प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, शंभूनाथ सिंह आदि कवि प्रसिद्ध हैं। कुछ अन्य पूर्ववर्ती प्रतिभासंपन्न कवियों की प्रगतिवाद के भीतर भी बहुत अच्छी गति दिखाई दे रही है। प्रसिद्ध कवि 'दिनकर' इनमें मुख्य हैं। प्रसिद्ध प्रयोगवादी कवि अज्ञेय की भी बहुत सी रचनाएँ प्रगतिवाद के अंतर्गत आ सकती हैं यद्यपि सैद्धांतिक रूप से इनका प्रगतिवादियों से पूरा मतभेद है। इन सबसे आधुनिक हिंदी काव्य समृद्ध है और हो रहा है, पर सबका विवरण यहाँ देना हमारा उद्देश्य नहीं है। प्रगतिवाद की प्रारंभिक अवस्था से ही जो कवि उसकी ओर प्रवृत्त हुए हैं और मार्क्सवाद की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हैं उनमें से कुछ का परिचय यहाँ इसलिए दे दिया गया कि व्यक्तिगत रूप से भी इन नवीन धारा के कतिपय विशिष्ट कवियों की विशेषताओं का कुछ आभास पाठकों को मिल जाय। इस प्रसंग को पूरा विस्तार देने का अवसर अभी नहीं आया है। उसकी विस्तृत समीक्षा तो तब हो सकती है जब उसका स्वरूप पूरा निखर कर सामने आए। उसका वास्तविक मूल्यांकन 'वाद' का जोश कम होने ही पर संभव है। पर इस थोड़े काल में प्रगतिवाद ने अपना काफी विस्तार कर लिया है। नवयुवकों के बीच उसका प्रभाव बढ़ रहा है, अतः उसकी वर्तमान गतिविधि का निरीक्षण करने पर जिन व्यापक प्रवृत्तियों का परिचय मिला उन्हीं सबका प्रस्तुत पुस्तक में विचार किया गया है।

प्रगतिवाद की कतिपय प्रवृत्तियाँ प्रशंसनीय हैं। छायावाद काल के अंतिम दिनों में हमारे काव्यक्षेत्र में एक ओर व्यक्तिगत निराशा और संकुचित प्रेम का जो वातरण तैयार हो रहा था उससे निकलकर और सामाजिकता के अनुकूल विशेष वातावरण बनाकर प्रगतिवाद की कई

रचनाओं ने काव्य में नई आशा का संचार किया है और सामाजिक जीवन की विशृंखलताओं की ओर विशेष ध्यान दिया है। इस समय हमें सामाजिक भावों से पूर्ण स्पंदित साहित्य की आवश्यकता है। प्रगतिवाद उस ओर बढ़ रहा है। आशा है कि राजनीतिक विचारधारा की संकुचित मनोवृत्ति का त्याग करके हमारे कवि सहृदय-हृदय-संवेद्य मर्मानुभूति का ऐसा पथ ग्रहण करेंगे जिससे उनकी रचनाएँ हमें वस्तुतः करुणा से द्रवित करने और हमारे हृदय में आशा का संचार करने में और भी अधिक सफल होंगी। आशा है उनकी वाणी जीवन के अभिनंदन गान से झंकृत होगी, कर्माभिमुख करने वाला उत्साह प्रदान करेगी और जीवन की संपूर्ण परिधितक अपना विस्तार करेगी जिससे राष्ट्र और जाति का मंगल और साथ ही साहित्य की संवर्द्धना हो सके। इस आशा के पल्लवित होने के संकेत इस नवीन काव्यधारा में मिलते हैं। इसी दृष्टि से मैं इसका प्रशंसक हूँ।